ऋतम्भरा
वर्ष 1 — १९९१
अंक 2, 3, 4.

" ऋतम्भरा स्यादमृतत्ववर्षिणी "

ऋतम्भरा

अप्रेल १९८८

वर्ष १ अंक २

कैवल्यधाम, लोणावला ४१० ४०३ पुणे
महाराष्ट्र (भारत)

वेदामृतम्

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं
मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ।।

(कृष्ण यजुर्वेदीय.श्वेताश्वतरोपनिषत्. ६–१८)

(परमेश्वर को प्राप्त करने का सुगम साधन सर्वतोभाव से उन्हीं की शरण में चले जाना है । अतः साधक को मन के द्वारा उक्त निम्न भाव का चिन्तम करते हुए परमात्मा की शरण में जाना चाहिए ।"जो परमेश्वर सर्व प्रथम ब्रह्मा को उत्पन्न करता है; और जो निश्चय ही उस ब्रह्मा को समस्त वेदों का ज्ञान प्रदान करता हैं; उस परमात्मज्ञानविषयकबुद्धिको प्रकट करने वाले प्रसिद्ध देव परमेश्वर की मैं–मोक्ष की इच्छा करने वाला साधक शरण में जाता हूँ ।"

"सत्यं परं धीमहि"

ऋतम्भरा

(योग की त्रैमासिक पत्रिका)

अप्रेल १९८८

कैवल्यधाम लोणावळा
पुणे (महाराष्ट्र)
४१० ४०३

आजीवन ग्राहक शुल्क—रु० ५००/—
वार्षिक ग्राहक शुल्ल—रु० २०/—
एक प्रति—रु० ५/—

ॐ

ऋतम्भरा

(त्रैमासिक हिंदी)

वर्ष १ 卐 अंक २

: विषयानुक्रम :

अध्यक्ष : स्वामी दिगंबरजी

प्रबन्ध सम्पादक : श्री ओम् प्रकाश तिवारी

सम्पादक : श्री रामरत्न शास्त्री

'ओम्'

सम्पादकीय –

'ऋतम्भरा का दूसरा अंक पाठकों के हाथ में है । प्रथम अंक की प्रतियाँ अभी भी पाठकों को भेजी जारही है । अतः यह नहीं कहा जा सकता कि इसके बारे में पाठकों के विचार क्या हैं ? मुझे आशा है कि हम शीघ्र ही उनकी प्रतिक्रिया जान सकेंगे तथा पत्रिका के आवरण व सामग्री को तदनुरूप परिमार्जित कर अपेक्षित रूप दे सकेंगे ।

१९८८ वर्ष का प्रारम्भ 'कैवल्यधाम' के लिये बडे शुभ कार्य से हुआ है । वहाँ पर 'योगशिक्षा व अनुसन्धान' पर द्वितीय अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन (१ से ४ जनवरी तक) हुआ था, जिसमें देश व विदेश से सभी क्षेत्रों के जाने माने एवं आदरणीय व्यक्तियों ने भाग लिया । उसमें उठाये गये प्रश्न व उनपर हुये संवाद बडे ही उपयोगी थे । सर्वश्री आर. आर. दिवाकर व व. स. पागे जैसे गांधीवादी व अरविन्द दर्शन के व्याख्याकार, डा. डोस्ट्लेक, डा. आर्थर ब्राउन्स्टिन डा. फ्रास्टेल, डा. पलसाने, श्री. अनिल विद्यालंकार जैसे वैज्ञानिक व शिक्षाविद, माननीय श्री वसन्त साठे (केन्द्रीय मंत्री), डा. व्हि. सुब्रमणियम, राज्यमंत्री के सारगर्भित व्याख्यान हुए । अध्यात्म के क्षेत्रसे पू. स्वामी दिगम्बरजी, स्वामी चिदानन्दजी एवं स्वामी हरिप्रसादजी जैसे संतो की उपस्थिति में वातावरण सुरम्य व आनन्दमय रहा ।

सभी की उपस्थिति में 'नवीन शिक्षा व योगानुसंधान' के सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रस्ताव पारित हुआ ।

"यह सम्मेलन 'नई शिक्षा–नीति के निर्धारण हेतु भारत सरकार द्वारा उठाये गए कदमों की प्रशंसा करता है, जिसका लक्ष्य नयी पीढी में श्रेष्ठ नागरिकता के गुण उत्पन्न करना तथा भारत के समस्त विद्यालयों में योग को एक पद्धति के रूप में **प्रवेश दिलाना** है जो शरीर एवं मन के संयुक्त विकास को प्रोत्साहन देती है ।

जो भी है–; शिक्षा पद्धति के विभिन्न स्तरों पर योग को सम्मिलित करने की **प्रक्रिया** एवं **विषयवस्तु** को तैयार करते समय

बडी सावधानी बरतने की आवश्यकता है। इनके आधार सुदृढ़ तथा समय समय पर सुपरीक्षित सिद्धान्त होने चाहिए ताकि नई शिक्षा विधि द्वारा अपेक्षित उद्देश्यों की पूर्ति हो सके।

इन विचारों के क्रियान्वयन की सफलता शिक्षकों के प्रशिक्षण-कार्यक्रम पर निर्भर करेगी। इस पर गम्भीरतापूर्वक तत्काल विचार करने की आवश्यकता है।

योग-शिक्षा एवं अनुसंधान के क्षेत्र में कैवल्यधाम द्वारा किये गये महान् पुरोगामी कार्य को ध्यान में रखते हुए सम्मेलन के प्रतिनिधि भारत सरकार से संस्तुति करते हैं कि वह अध्यापकों की प्रशिक्षण योजना एवं पाठचक्रम की रचना के लिये तथा समस्त कार्य योजना को प्रगतिशील रूप देने के लिए भी कैवल्यधाम के मूल्यवान् सुझावों की सहायता ले।

शिक्षा पद्धति में योग प्रवेश के सुदृढ़ आधार को प्रस्तुत करने के क्रम में यह सम्मेलन भारत सरकार से यह भी प्रस्ताव करता है कि वह विद्यार्थी-समूह पर योग-शिक्षा के प्रभाव का मूल्यांकन करने के लिए कुछ संस्थाओं को चुने जो इस प्रक्रिया के रूपायन एवं अनुप्राणन की गति को और आगे बढा सकें।

यह सम्मेलन भारत सरकार से इसके लिए भी संस्तुति करता है कि वह इस क्षेत्र में कार्य कर रही कैवल्यधाम जैसी संस्थाओं को और वित्तीय एवं अन्य सुविधाओं के रुप में सहायता करके उनके शरीर विज्ञान, मनोविज्ञान एवं समाज सम्बन्धी पक्षों में अधिक अनुसन्धान के लिए प्रोत्साहन दे।

सम्मेलन शिक्षा के श्रेत्र में कार्यरत स्वयंसेवी संस्थाओं से भी अनुरोध करता है कि वे विद्यालयीन छात्रों के सर्वांगीण विकास हेतु योग को पुरस्कृत करने के काम में स्वयं को प्रवृत्त करें। इस प्रयास में कैवल्यधाम अराजकीय स्वयंसेवी संस्थाओं की गतिविधियों को सुनियोजित करने, सहायता, मार्गदर्शन या सहयोग करने के लिए आगे आ सकता है।

अन्त में हम दृढता के साथ अनुभव करते हैं कि बच्चे योग को सही रूपमें तब तक नहीं सीख सकते जब तक कि राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तरों पर वातावरण में योग की भावना को उद्दीप्त न किया जाय । हम विश्व में सर्वत्र लोगों से एकात्म मानव-समाज की रचना के लिए आग्रह करते हैं जो यौगिक मूल्यों अर्थात् अहिंसा, सत्य, शौच, अपरिग्रह एवं करुणा पर आधारित हो ।"

उपर्युक्त प्रस्ताव के परिप्रेक्ष्य में कुछ अत्यन्त महत्व की बातें उभरकर आती हैं–जैसे कि–'योग की दिशा क्या हो ? उस दिशा को निर्देश कहाँसे मिले ? विज्ञान और योग की युति कितनी तर्क संगत और समयापेक्षित है ? आदि आदि !

हम ऐसी आशा करते हैं कि इस सन्दर्भ में चिन्तनशील योग के महान् आचार्यों व उद्भट विद्वानों के प्रयत्नों में 'ऋतम्भरा' सहायता के रूप में आगे आएगी तथा उन प्रश्नों के उत्तर खोजने का प्रयास करेगी जो आज भी प्रश्न बने हुए हैं ।

ओम प्रकाश तिवारी
(प्रबन्ध सम्पादक)

ऋतम्

नाहं देहो नेन्द्रियाण्यन्तरङ्गो,
नाहंकारः प्राणवर्गो न बुद्धिः ।
दारापत्यक्षेत्रवित्तादिदूरः,
साक्षी नित्यः प्रत्यगात्मा शिवोऽहम् ।।
(आचार्य शंकर कृतअद्वैतपञ्चरत्न–१)

"न मैं देह हूँ, न इन्द्रिय हूँ, न अन्तःकरण, न अहंकार, न प्राण-समूह और न बुद्धि ही हूँ । स्त्री, सन्तान, क्षेत्र और धन आदि से दूर, नित्य साक्षी अन्तरात्मा एवं शिवस्वरूप हूँ ।"

उक्त श्लोक में अहंग्रहोपासना का अत्युपयोगी आधार प्रस्तुत किया गया है । प्रथम तीन चरणों में आत्मतत्त्व पर पडे हुए आवरणों (अध्यास) का निषेध किया गया है जो चिति की विशदता को प्रकट करके स्वरूपबोध का मार्ग प्रशस्त कर देता है और अन्तिम चरण में 'स्वरूपावस्था की परिचिति दे दी गयी है ।

भाव यह है–'जगन्नियन्ता ने रोग एवं दोषों के साथ साथ उनका विरोधी तत्त्व भी उत्पन्न किया है–जैसे अन्धकार के साथ प्रकाश, शीत के साथ उष्णता–आदि आदि; उसी प्रकार यद्यपि अज्ञान का विरोधी ज्ञान है, तथापि परोक्षज्ञान मूल अज्ञान का सर्वथा नाश नहीं कर सकता, जब तक कि मनुष्य की बुद्धि में व्याप्त विपरीत भावना का सर्वथा अभाव न हो जाय । 'मैं देह हूँ'–इस मूल अज्ञान का उच्छेदन करने के लिए, 'मैं देह नहीं हूँ'–इस भावना से दृढ़ निश्चय के साथ "शिवोऽहम्" के लक्ष्य को अपना ध्येय बनाकर 'अहंग्रह' उपासना की जाती है । आत्म साक्षात्कार का यह मार्ग अत्यन्त वैज्ञानिक और प्रयत्न साध्य है ।'

रा. र. शास्त्री

आसनों के लिए पूर्वसिद्धता

ले० स्वामी कुवलयानन्दजी

अनुवादक–श्री. बा. भा. घाणेकर

(प्रस्तुत लेख पू. स्वामी कुवलयानन्द जी द्वारा लिखित 'योगासन' नामक पुस्तक से लिया गया है। पुस्तक का मूल रूप अंग्रेजी में है जिसका हिन्दी रूपान्तर मा. बा. भा. घाणेकर ने किया है। सर्व-सामान्य तक स्वामी जी के विचारों को लेजाने के उद्देश्य को दृष्टि में रखकर उसका संपादित रूप 'ऋतम्भरा' में दिया जा रहा है। साधकों के लिए उपादेय होगा–ऐसी आशा है।)

सम्पादक

योग का मानवता के लिए एक पूर्ण सन्देश है। उसका मानव शरीर, मन और आत्मा तीनों के लिए भी सन्देश है।

योगशास्त्र मन एवं शरीर के परस्परावलम्बन को निस्सन्देह मानता है। योगशास्त्र शरीर और मन दोनों के लिये ऐसी क्रियाओं की योजना प्रस्तुत करता है जिससे दोनों का विकास समन्वय की भावना में होकर एक सन्तुलित मन एवं शरीर की स्थिति स्थापित हो और आत्मा इन दोनों का बन्दी न होने पावे। योगियों का यह पूर्ण विश्वास है कि मन और शरीर के बन्धन से इस प्रकार मुक्त आत्मा अनन्त चिदानन्द के असीमित अस्तित्व की अनुभूति करता है।

मन और शरीर का परस्परावलम्बन स्वीकार करते हुए भी, योगशास्त्र का यह विश्वास है कि शरीर के मन पर होने वाले प्रभाव की अपेक्षा मन का शरीर पर होनेवाला प्रभाव अधिक प्रबल

रहता है। अतः अष्टाङ्गयोग में शारीरिक क्रियाओं के लिये निश्चित स्थान होते हुए भी मानसिक क्रियाओं की अधिकता है। आसन शारीरिक क्रियाएँ हैं और अष्टाङ्ग योग में उन्हें तृतीय स्थान दिया गया है।[1] यम और नियम—ये मानसिक क्रियाएँ हैं।[2] अष्टाङ्गयोग में इन्हें क्रमशः प्रथम और द्वितीय स्थान दिया गया है, क्योंकि उनके अभ्यास के बिना आसनों से पूर्ण अभीष्ट लाभ नहीं प्राप्त हो सकता।

आसनों के अभ्यास से प्राप्त फलों का संक्षेप में निर्देश कर के हम विषयारम्भ करेंगे। तदुपरान्त विज्ञानद्वारा प्रस्तुत शरीर एवं मन के परस्परावलम्बन के प्रभाव का परीक्षण करेंगे और उसके बाद यम-नियमों के साधारण लक्षणों को समझने का प्रयास करेंगे। इतना सब करने के बाद ही यम नियमों के अभ्यास से आसनों की फलप्रदान करने की क्षमता बढ़ती है या उनकी उपेक्षा करने से वह घटती है, इसका ज्ञान हो सकेगा।

आसनों को दो प्रमुखविभागों में रखा जा सकता है —१ शरीर संवर्धनात्मक (cultural) और २. ध्यानधारणात्मक या ध्यानोपयोगी (Meditative)। शीर्षासन, सर्वांङ्गासन, भुजंगासन, धनुरासन, शलभासन इत्यादि शारीरिक स्वरूप के और पद्मासन, स्वस्तिका-आसन और समासन ध्यान धारणात्मक आसन हैं। आसनों का अभ्यास करने वाले व्यक्ति भी दो प्रकार के होते हैं—एक वे व्यक्ति जो आसनों से केवल शारीरिक लाभ प्राप्त करना चाहते हैं और

---

१. यमनियमासन प्राणायाम प्रत्याहार धारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्ग.ङ्गानि
पा. यो. सू. २:२९

२. 'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः' पा. यो. सू. २:३०
(अहिंसा, सचाई, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य और संग्रह न करना—ये यम हैं)

३. शौच सन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमाः। पा. यो. सू. २:३२
(पवित्रता, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और स्वयं को ईश्वर के अर्पण करना—ये नियम हैं)

दूसरे वे जो शारीरिक लाभों के अतिरिक्त आत्मिक लाभ भी प्राप्त करने को उत्सुक रहते हैं। पहले प्रकार के व्यक्तियों को शरीर-संवर्धनवादी (Pysical culturist) और दूसरे को आत्मबलवादी (Spiritual culturist) कहा जा सकता है। नाडीसंस्थान और अन्त:स्रावी संस्थान (Excretion system) शारीरिक स्वास्थ्य प्राप्ति के प्रमुख साधन हैं अत: शरीरसंवर्धनवादी और आत्मबल-वादी दोनों उक्त संस्थानों को पूरी तरह स्वस्थ रखने की अपेक्षा करते हैं। आत्मबलवादी आसनों का अभ्यास एक और दृष्टि से भी करता है। वह चाहता है उसका नाडी संस्थान इस प्रकार प्रशिक्षित हो जाये कि उसे कुण्डलिनी जागृत करने का ध्येय प्राप्त हो सके और इसके परिणाम स्वरूप उत्पन्न अन्यान्य प्रभावों को सहन करने में नाडीसंस्थान समर्थ हो। आत्मबलवादी केवल शारीरिक आसनों के अभ्यास से सन्तुष्ट नहीं हो सकता, उसे ध्यानोपयोगी आसनों का भी अभ्यास करना आवश्यक है क्यों कि ये आसन शरीर की चया-पचयात्मक (Metabolic) क्रिया को न्यूनतम स्थिति में लाकर, मन को भौतिक बाधाओं से मुक्त कर देते हैं, जिससे धारणा, ध्यान और समाधि के लिये आवश्यक एकाग्रता प्राप्त हो सके। अत: सारांशरूप में यह कह सकते हैं कि शारीरिक आसनों का अभ्यास अन्त:स्रावी और नाडी तन्त्रों को प्रशिक्षित करने के लिये और ध्यानो-पयोगी आसनों का अभ्यास ध्यानादि आवश्यक मानसिक कार्यों से शारीरिक बाधाओं को दूर करने के लिये किया जाता है।

आसनों से अपेक्षित लाभों की जानकारी होने के बाद यहाँ मन और शरीर के परस्परालम्बन के विषय में विचार करते हैं। 'स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन' यह पुरानी कहावत निश्चित रूप से शरीर के मन पर होनेवाले प्रभाव को स्पष्ट करती है। स्वस्थ और बलिष्ठ व्यक्ति शान्त स्वभाव के और निर्बल एवं अस्वस्थ व्यक्ति चिडचिडे स्वभाव के होते हैं--यह सर्वपरिचित अनुभव यही दिखाता है कि शरीर मन को बहुत अधिक प्रभावित करता है। रुग्ण शय्या पर पडे किसी रोगी का ही उदाहरण लीजिए। जब उसका स्वास्थ्य गिर

जाता है, तब उसमें निराशा ही आती जाती है। परन्तु जैसे ही उसका स्वास्थ्य सुधरने लगता है उसके मन में जीवन के प्रति आशा प्रबल होने लगती है। यह एक सर्वज्ञात बात है कि अल्पकाल ही क्यों न ही, चिन्ता से मुक्त करने के लिये मद्य के कारण ही मनुष्य साधारणतया मद्यपान करने लगता है। नाडी संस्थान का मन पर गहरा प्रभाव पडता है, यह बात बद्धकोष्ठता (कब्जी) से पीडित व्यक्तियों के अनुभवों का विचार करनेपर सरलता पूर्वक सिद्ध की जा सकती है। ऐसे व्यक्तियों का मलाशय जब मल की कडी गांठों से भरा रहता है, तब उनका नाडी संस्थान बुरी तरह पीडित होता है और उसका परिणाम भयंकर विषण्णता और दुःखद विचारदौर्बल्य में होता है। ऐसी परिस्थिति में यदि ये व्यक्ति वस्ति (Enema) द्वारा मल साफ कर लें तो उन्हें तत्काल प्रफुल्लता की भावना की अनुभूति होगी और उनकी विचार शक्ति भी पूर्ववत् हो जाएगी। मलविसर्जन संस्थान के अधिकारी वैज्ञानिकों के एक अत्युत्साही दल का यह विश्वास है कि व्यक्तियों की अन्तःस्रावी ग्रन्थियों की या अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के योगों (Preparation) द्वारा चिकित्सा करके उनका स्वभाव भी बदला जा सकता है। इन सब तथ्यों से सारांश रूप में यही सिद्ध होता है कि शरीर मन पर गहरा प्रभाव डालता है।

मन से शरीरपर होने वाले प्रभाव को भी उतने ही विश्वसनीय प्रमाण से सिद्ध किया जा सकता है। मन का भावात्मक अंग शरीर पर विशेषतया नाडी व अन्तःस्रावी संस्थानों पर गहरा प्रभाव डालता है। हम दिन रात किस प्रकार भावनाओं से प्रभावित होते रहते हैं, इसको समझने के लिये यह जानना पडेगा– भावनाएँ हैं क्या और किस प्रकार वे हमारे शरीर में उत्पन्न होती हैं?

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, ईर्ष्या, निराशा, पश्चात्ताप, विषाद, विश्वास, आशा, लज्जा, दया, प्रशंसा, श्रद्धा, भक्ति, कृतज्ञता, इत्यादि मनुष्य की विविध भावनाएँ (Emotions) हैं।

क्षणिक तीव्र भावनाओं को 'आसक्ति' (Passtion) कहते है। क्रोध की भावना जब उग्र हो जाती है तब मनुष्य क्रोधासक्त हो जाता है। तीव्र घृणा की भावना भयासक्ति में परिणत होती है। मनुष्यों की अपनी अपनी मनोवृत्तियाँ (Moods) होती हैं। ये मनोवृत्तियाँ भावनाएँ ही होती हैं, परन्तु तीव्रता में कम तथा सामान्य रूप में अधिक होने के कारण ये आसक्ति से भिन्न होती हैं। जब कोई मनोवृत्ति इतनी नित्य की हो जाए कि वह व्यक्ति की विशेषता ही बताये तो वह उस व्यक्ति की प्रकृति' (Temperament) कहलाती है। यद्यपि हम लोगों में कुछ लोग आसक्ति से मुक्त हो सकते हैं, तथापि भावनाओं से पूरी तरह मुक्त कोई नहीं होता। प्रत्येक की अपनी अपनी मनोवृत्तियाँ और प्रकृति होती हैं। हमारा अस्तित्व ही मन के अधीन है।

ये भावनाएँ अपनी तीव्रता की न्यूनाधिकता के अनुसार हमारे शरीर पर कम या अधिक प्रभाव डालती हैं। जैसे यदि भावना तीव्र और आकस्मिक रहे तो वह घातक भी हो सकती है। प्रसिद्ध शल्य-चिकित्सक वेसालियस (Vasalious) ने जब देखा कि विच्छेदन किये जाने वाले शव का हृदय स्पन्दन कर रहा था तो उस पर ऐसा दुःखाघात हुआ कि वह मृत होकर गिर पडा। सुखद भावना भी मृत्युके लिये कारण हो सकती है। सोफोक्लीस (Sophocles) की एक शोकान्तिका (Tragedy) को सर्वोच्च पुरस्कार मिला। इससे उसे इतना आनन्द हुआ कि उसी से उसकी मृत्यु हो गयी। लिबनिट्स (Leibnitz) की भतीजी को अपने मृत चाचा की शैया के नीचे एक बडी सुवर्ण राशि मिलने पर उसे इतना तीव्र हर्षोल्लास हुआ कि उसी से उसकी जीवन लीला समाप्त हो गयी। यदि आनन्द का परिणाम, दुःख के परिणाम के समान है तो वह इस कारण से है, कि दोनों में समान रूप से पाया जानेवाला अकल्पित और अत्यधिक आश्चर्य का धक्का ही वस्तुतः परिणाम करता है।

जब भावनाएँ बहुत तीव्र न होकर, कम तीव्र होती हैं तब वे प्राणघातक भले ही न हों, परन्तु वे नाडीसंस्थान पर इस प्रकार प्रभाव डाल सकती हैं कि जिसके परिणाम स्वरूप उसमें कुछ विकार उत्पन्न हो जाए। प्राध्यापक नौनिन ने लिखा है कि सन् १९७० में स्ट्रासवर्ग पर वम वर्षा के बाद डर और चिन्ता के कारण मधुमेह उत्पन्न होने के कई उदाहरण देखने में आये।

नाडी संस्थान की इन सब बाधाओं का परिणाम अनुकम्पी और और प्राणदा (Vagus) नाडियों से नियन्त्रित अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के व्यपजनन (Degeneration) में होता है। लोरंड, सेजस और अन्य कई चिकित्सकों ने निश्चय पूर्वक यह सिद्ध कर दिया है कि शरीर के विविध जीवन कार्योंकी निर्दोषता मुख्य रूप से अन्तःस्रावी ग्रन्थियों पर निर्भर रहती है, और यदि इन ग्रन्थियों के अन्तस्रावी ग्रन्थिमें किसी प्रकार का दोष या त्रुटि आजाय तो अकाल बुढ़ापा और मृत्यु भी आसकती है। इस प्रकार भावनाएँ, नाडी संस्थान और अन्तःस्रावी ग्रन्थियों में व्यपजनन उत्पन्न कर, मनुष्य के स्वास्थ्य में एक भयंकर बाधा उत्पन्न करती हैं।

अन्तःस्रावी ग्रन्थियों में सबसे महत्वपूर्ण अवटु (Thyroid), पियूषिका (Pituatary), अधिवृक्क और जनन की (Gonad) ग्रन्थियाँ हैं। ये ग्रन्थियाँ भावनाओं से किस प्रकार प्रभावित होती हैं, उस पर अब विचार करते हैं।

भावनाएँ अधिवृक्क ग्रन्थियों पर प्रभाव डाल कर रक्तदाब (Blood Pressure) बढ़ाती हैं, जिसके फलस्वरूप धमनी काठिन्य (Asterio selerosis) और रक्तवह संस्थान के अन्य रोग उत्पन्न होने में अनुकूलता मिलती है।

मानसिक ग्लानि (उदासी) से अवटुका पर इतना अधिक प्रभाव पड़ता है कि वैज्ञानिक उसे (उदासी को) श्लेष्माभशोफ (Myoxydema) का एक हेतु मानते हैं। शरीर को विषों से

वचाने की दृष्टि से अवटुका निसर्ग द्वारा स्थापित एक महत्वपूर्ण साधन है। व्यपजनित अवटु (थॉयरायड) का परिणाम रोग और असमय का बुढ़ापा है। निरन्तर मानसिक ग्लानि का शरीर पर इतना गंभीर प्रभाव हुआ करता है।

पियूषिका ग्रन्थि भी भावनाओं से प्रभावित होती है। तीव्रताओं के कारण उत्पन्न अग्रांगाभिवृद्धि (Acromegaly) के कई रोगी डाक्टर पेल (Pel) इत्यादि अन्य चिकित्सकों के देखने में आए हैं। डाक्टर सेजोस्(Sajous) ने कई बार यह वताया है कि तीव्र भावनाओं का परिणाम होनेवाले अंगों में यही ग्रन्थि सबसे महत्व का अंग है।

जननग्रन्थियाँ भी भावनाओं से बहुत प्रभावित होती हैं। तीव्र-मानसिक आघात होने के पश्चात् अकस्मात् ऋतुस्राव चालू होनेके अनेक उदाहरण देखने में आते हैं। पुरुषों में कभी कभी इसका परिणाम नपुंसकता (Impotency) के रुप में होता है।

अब तक भावनाओं के हानिकारक प्रभावों का ही विवेचन किया गया है। इसका अर्थ यह नहीं है कि सारी भावनायें हानि-कारक ही होती हैं। कुछ ऐसी भी भावनाएँ हैं, जो नाडीसंस्थान पर स्वास्थ्यकर प्रभाव भी डालती हैं। श्रद्धा और विश्वास जो मनुष्य की मनोवृत्ति को निश्चित रुप से आशावादी बनाती हैं, नाडियों की स्वास्थ्यबृद्धि के कारण बन जाती हैं। आनन्द और सुख जब उचित मर्यादा में रहते हैं, तब वे नाडी संस्थान के स्वास्थ्य-रक्षण में बहुत सहायक होते हैं। भगवद्भक्ति या मनःशान्ति देने-वाले जीवन के किसी सिद्धान्त पर श्रद्धा मनुष्य को नाडी-संस्थान को स्वस्थ और स्थिर बनाये रखने में समर्थ करती है।

उक्त विवेचन मन-शरीर के परस्परावलम्बन का समर्थन करने के लिये पर्याप्त है। मन एवं शरीर दोनों एक दूसरे पर अनुकूल तथा प्रतिकूल भी प्रभाव डालते हैं। परन्तु यदि इस परस्परावलम्बन का

और गंभीरता से विचार किया जाये तो यह दिखायी देता है कि शरीर के प्रभावों से परे रहने की शक्ति मन में है। इस कथन की यदि सत्यता देखनी हो तो हमें मातृभूमि की सेवा के लिये विविध देशों के जिन वीरोंने भयंकर शारीरिक यातनायें सही हैं, उनकी जीवनगाथाओं का अध्ययन करना होगा। उनकी लौह मनोवृत्ति झुकना तो जानती ही न थी, किन्तु जब उन्हें अधिकाधिक भयानक शारीरिक अत्याचारों का सामना करना पड़ा तब वह फौलाद के समान और भी अधिक दृढ़ होती गई। अत्याचारों में शरीर जलकर भस्म होते समय भी अपनी श्रद्धाओं से रत्ती भर भी विचलित न होनेवाले धार्मिक हुतात्माओं का उज्ज्वल इतिहास हमारे पढ़ने में आता है।

इसके विपरीत यह भी देखा जाता है कि भयाक्रान्त होने पर बलवान् से बलवान् भी निर्बल हो जाते हैं। चिन्ताक्रान्त होने पर उत्तम आरोग्य भी बुरी तरह गिरजाता है। जिन्हें राक्षस भी कहा जा सकता है, ऐसे बलवान् व्यक्ति भी अत्यधिक क्रोधावेग में डग-मगा जाते हैं और अपनी शक्ति का ठीक उपयोग नहीं कर सकते। काल्पनिक संदेह के कारण एकाएक नपुंसक (Impotent) हुए दो युवकों के उदाहरण हमारी सृष्टि में आए हैं।

इससे यह निःसन्देह सिद्ध हो जाता है कि मन और शरीर का परस्परावलम्बन होते हुए भी मन का शरीर पर होने वाला प्रभाव शरीर के मन पर होनेवाले प्रभाव की अपेक्षा बहुत अधिक गंभीर होता है।

यौगिक आसन शरीर कार्य संबन्धी विशिष्ट फल प्राप्ति करने की दृष्टि से की गयी शारीरिक चेष्टाएँ हैं। हम जानते हैं कि मन का शरीर पर गंभीर प्रभाव पडता है, तो क्या मन को प्रशिक्षित किये बिना हम अपने शरीर को प्रशिक्षित करने की सोच सकते हैं? अपने मन को शरीर में उत्पात (उपद्रव) मचाने देकर और अन्तः-स्रावी ग्रन्थियों को जीर्ण शीर्ण करने वाले कामुक आवेगों को आने

देकर क्या हम सर्वाङ्गासन के द्वारा कभी भी अपने अवटुका को स्वस्थ और जनन ग्रन्थियों को बलशाली बना सकने की आशा कर सकते हैं? मस्तिष्क की कोशिकाओं का नाश करनेवाली चिन्ता रूपी अग्नि यदि विद्यमान हो तो शीर्षासन कभी मानसिक शान्ति हमें प्रदान कर सकेगा? हमें पूर्ण विश्वास है कि वाचक इन प्रश्नों का उत्तर पूर्ण नकारात्मक ही देगें, क्योंकि उन्हें विश्वास है कि मानसिक प्रशिक्षण की पुष्टि के बिना शारीरिक प्रशिक्षण कभी भी अपेक्षित फल नहीं दे सकता। अतः दोनों प्रशिक्षण साथ साथ होने चाहिए। या दूसरे शब्दों में मानसिक प्रशिक्षण को शारीरिक प्रशिक्षण की तुलना में अग्रस्थान दिया जाना चाहिए।

ठीक इसी कारण योगशास्त्र के अभ्यासक्रम में यमों और नियमों को क्रमशः प्रथम तथा दूसरा स्थान और आसनों को तृतीय स्थान दिया गया है। यम नियम मिलकर आचार-संहिता (Code of conduct) के दश सिद्धान्त होते हैं जिनका निष्ठापूर्वक पालन योगाभ्यासी को निरपवाद सर्वोच्च मनःशान्ति प्रदान करता है और उसे समस्त तीव्र भावनाओं से मुक्त रखता है। उसकी दृढ़ ईश्वर श्रद्धा उसमें प्रबल आशावाद उत्पन्न करती है। उसकी विवेकबुद्धि शुद्ध रहती है और प्रत्येक स्थिति में वह सुखी रहता है। संक्षेप में वह अपने मन को पूर्ण स्वस्थ बनाये रखने में समर्थ होता है। यह मानना ही पडेगा कि यम नियमों के अभ्यास में पूर्णता प्राप्त करना अत्यन्त दुष्कर है। लाखों में एक भी इस पूर्णता की स्थिति तक नहीं पहुँच सकता। फिर भी यम नियमों की अमूल्यता इस बात में होती है कि वे निष्ठा से उनके अभ्यास का अल्पारम्भ करनेवालों को भी मानसिक स्वास्थ्य प्रदान करने की क्षमता रखते हैं। अर्थात् मन के स्वास्थ्य की न्यूनाधिकता यम नियमों के प्रति निष्ठा तथा उनके पालन से प्राप्त सफलता की न्यूनाधिकता के ऊपर निर्भर करेगी। परन्तु इनके पालन से प्राप्त अल्पतम सफलता भी इच्छुक व्यक्ति को कुछ न कुछ ईश्वरीय प्रसाद दिये बिना नहीं रहेगी। अतः आसनों की पूर्वसिद्धता के लिये जिस एक बात की

आवश्यकता होती है वह मनःस्वास्थ्य प्रदान करने की दृष्टि से यम नियमों का अभ्यास करने का दृढ़ संकल्प है। यम नियमों के पालन में कुछ अंश तक सफलता प्राप्त किये बिना आसनों का अभ्यास प्रारम्भ ही नहीं किया जा सकता। यह धारणा हमारे साधकों के मन में बन जाए, यह हम नहीं चाहते। सच देखा जाय तो दोनों का अभ्यास एक साथ प्रारम्भ किया जा सकता है। हम योगाभ्यासियों के मन पर जो एक बात विशेषतया अंकित करना चाहते हैं वह यह है कि आसनों से सर्वोत्तम फल प्राप्त करना हो तो यम नियमों को आचार में लाना अत्यन्त आवश्यक हैं।

केवल शरीर संवर्धन की दृष्टि से योग को देखनेवाले हमारे कुछ वाचक निम्न युक्ति प्रस्तुत कर सकते हैं। शरीरसंवर्धन की दृष्टि से आसनों के अभ्यास में सफलता प्राप्त करने के लिये यदि यम नियम पालन जैसे कठिन मानसिक अनुशासन की आवश्यकता है तो उसकी आवश्यकता ही न होनेवाली शरीरसंवर्धन की अन्य पद्धतियों की तुलना में योगाभ्यास की पद्धति अत्यन्त प्रतिकूल स्थिति में होती है। परन्तु यह युक्ति निम्न कारणों से सदोष है।

१– यह पहले बताया जा चुका है कि आसनों के विद्यार्थी को जिस एकमेव बात की आवश्यकता है, वह है यमनियम आचरण का संकल्पयुक्त प्रयास। यमनियमों का नाम सुनकर घबडाने की कोई बात नहीं है। बोलचाल की भाषा मे इनके सर्वसाधारण अभ्यास का अर्थ, 'जगन्नियंता[1] के ऊपर ज्वलन्त श्रद्धा रखकर अपने आचरण को मितयोग में रखना है, उस से अधिक नहो।

२– अभाग्यवश वस्तुस्थिति यह है कि अन्य शरीर संवर्धन पद्धतियों के प्रचारक शारीरिक प्रशिक्षण के साथ साथ मानसिक प्रशिक्षण

१– इसका अर्थ यह नहीं है कि नास्तिक योगाभ्यास नहीं कर सकते। परन्तु यह कहे विना नहीं रहा जाता कि और सब परिस्थिति समान होने पर भी नास्तिक की अपेक्षा एक सच्चे आस्तिक में आसनों का अभ्यास अधिक फलप्रद होता है।

रखने का आग्रह नहीं रखते । परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि ये पद्धतियाँ मानसिक स्वास्थ्य न होते हुए भी, शरीर को पूर्ण स्वास्थ्य प्रदान कर सकती हैं । मन–शरीर का परस्परावलम्बन यह एक वैज्ञानिक तथ्य है जो योग या अन्य पद्धतियों का अभ्यास करनेवाले सभी के लिये समानरूप से लागू है । हमें यह पूर्ण रूप से विश्वास है कि अन्यपद्धतियों के फल अधिक उत्साहजनक होंगे यदि उनके प्रचारक अपने अनुयायियों के लिये शारीरिक व्यायामों के साथ साथ मानसिक स्वास्थ्याचार भी अवश्य करें ।

इससे यह दीखता है कि आसनाभ्यास की पूर्ण सिद्धता के लिये यमनियमों का आचरण अत्यावश्यक है ।

अब ध्यानधारणात्मक आसनों का अभ्यास करने वाले साधकों लिए भी कुछ निर्दिष्ट कर देना आवश्यक लगता है । ध्यातव्य है कि आत्मबलवादी अभ्यासी के लिये ध्यानधारणात्मक आसनों का मूल्य सब से अधिक होता है । ये आसन शरीर में शरीर क्रिया सम्बन्धी इस प्रकार की स्थिति बना लेते हैं कि जिससे विविध इन्द्रियों के विषयों द्वारा मन का विचलित होना बन्द हो जाता है, अर्थात् बाह्य जगत् की दृष्टि से शरीर अचेतन सा हो जाता है । यह तभी संभव हो सकता है जब इसमें से किसी एक आसन का अभ्यास कम से कम निरन्तर छः मास तक किया जाय । इस कार्य के लिये ध्यानधारणात्मक आसनों में से किसी एक आसन का अभ्यास प्रतिदिन, लगन से और खण्ड न करते हुए, १ से २ घण्टे करना आवश्यक है । यदि इस प्रकार किया जाय तो छः महीनों में दृश्य फल दिखायी देगें और मन, शरीर की बाधाओं से मुक्त होकर स्वतन्त्र रहेगा । तथापि यह ध्यान में रखना चाहिए कि यदि कोई आत्मबलवादी उत्कटता और निष्ठा से यमनियमों का पालन नहीं करता है, तो ध्यान-धारणात्मक आसनों से प्राप्त लाभ उसे अपना मन एकाग्र करने में बहुत अधिक सहायता नहीं करेगा । ध्यानधारणात्मक आसन मन को भौतिक बाधाओं से अवश्य मुक्त करेंगें । परन्तु उसकी चंचलता कदापि नष्ट

नहीं होगी और जब तक वह सौम्य (Mild) या तीव्र भावनाओं से मुक्त न होगा, तब तक उसको एकाग्र भी नहीं किया जा सकेगा। अतः आत्मबलवादियों के लिये यम नियमोंका अत्यधिक अभ्यास एक नितान्त आवश्यकता है। यही एक साधना है कि जिसके बिना मन की एकाग्रता में प्रगति करना अशक्य है।

अब हम ध्यानधारणात्मक आसनों के लिये आवश्यक दो साधारण साधनों का उल्लेख करके लेख पूरा करेंगें।

ध्यानधारणात्मक आसनों का साधक, अपने अभ्यास के लिये सब प्रकार की बाधाओं से मुक्त स्थान निश्चित करे क्यों कि उन आसनों में तीव्र एकाग्रता की नितान्त आवश्यकता होती है। अतः यह वाञ्छनीय है कि वह मच्छर आदि से मुक्त एक अत्यन्त हवादार कमरा चुने जहाँ पर वह स्वतन्त्रतया कार्य कर सके। वाधा उत्पन्न होने की कल्पना भी मन की पूर्ण एकाग्रता प्राप्त करने के मार्ग में वाधक हो सकती हैं। यदि वह इस कार्य के लिये उपर्युक्त प्रकार का कमरा सुरक्षित कर उसमें आध्यात्मिक वातावरण उत्पन्न करे तो वह उसे अपनें अभ्यास में बहुत सहायता देगा।

जहाँतक बैठने का संम्बन्ध है, परम्परा प्राप्त बैठने की व्यवस्था सर्वोत्तम है। कुशासन के ऊपर मृगाजिन और उसके ऊपर प्रतिदिन धोये हुए मोटे खद्दर के चौहरेवस्त्र से एक अत्यन्त सुखावह आसन बन जाता है। (जिन्हें चर्म के उपयोग में धार्मिक आक्षेप है, उन्हें उसके स्थान पर चौहरा किए हुए मोटे ऊनीवस्त्र का उपयोग करना चाहिए।) इस प्रकार के आसन के सुख, योग के द्वारा मोक्ष चाहने वाले तथा परमेश्वर के पीछे पागल हुए हमारे ऋषिमुनियों के समान अभ्यास करने वाले के ही विशेषाधिकार हैं। अतः योग के विद्यार्थी को दिन प्रतिदिन इस प्रकार के आसन से जो रोमाञ्चकारी आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त होते हैं, वे इस आसन को उसके लिये राजसिंहासन से भी अधिक चित्ताकर्षक बनाते हैं।

गताँक से आगे–

शंकर विजय

स्वामी दिगम्बरजी

"अथ शिवो मनुजो निजमायया" अर्थात् (भगवान् शिवही अपनी माया से मनुष्य रूप में अवतरित हुए) । 'शंकर दिग्विजय' नामक ग्रन्थ श्री विद्यारण्य स्वामी जी द्वारा रचा गया है। ग्रन्थमें १६ प्रकरण हैं । प्रत्येक प्रकरण में श्री शंकराचार्य जी से सम्बन्धित एक एक चरित्र प्रसंग आया हुआ है । रचना प्रौढ और आलङ्कारिक भाषामें हुई है–अतः साहित्यिक दृष्टि से भी संस्कृतभाषाविद् सहृदयजनों के लिए भी रसमय एवं आस्वाद्य है ।

भौतिक जगत् में अवतीर्ण होने से पूर्व प्रत्येक अवतार की भूमिका आधिदैविक में बिद्यमान रहती है । भौतिक रूप में दिखायी देने वाला मांसपिण्ड तो एक निमित्त रूप है । निमित्त रूप में बनी हुयी हाथ पैरों वाले स्वरूप की महत्ता गायी जाए–उसकी अपेक्षा उसके पीछे आधारभूत रहनेवाली महत्ता का गायन अधिक उचित होगा । चरित्र लेखन का एक स्वरूप यह भी है कि चरित्रविशेष को जन्म से लेकर अन्त तक के समस्त घटना क्रम इस सरलता के साथ लिख दिये जाएँ कि एक बालक भी उसे बांच सके–समझसके । इसकी भी अपनी उपयोगिता है किन्तु इसमें भूतकाल की महत्ता बतायी हुई रहती है ।

ध्यातव्य है–घटना मात्र जगत् में अर्थात् भूताकाश में आती है, उसके पूर्व उसका चित्र अव्यक्त सृष्टि में रहता है। मनुष्य तो अपनी बुद्धि व्यक्त (जगत्) पर चलाता है जो प्रत्यक्ष है और उसी प्रकार कार्यकारण की श्रृंखला तैयार कर लेता है । यह बात गौण है।

उसका (व्यक्त का) अस्तित्व तो 'अव्यक्त स्थिति' में है। अव्यक्त में कार्यकारण की शृंखला व्यवस्थित करने की क्षमता नही रहती, वहाँ तक पहुँच भी नहीं पाते। इसी वास्तविकता के कारण, जो मुख्य है, अव्यक्त हैं, उसे भुला दिया जाता है। यहाँ तक कि मनुष्य उसके पार्श्व में भी सामान्यतया जाता नहीं है। सांख्य ने इसी कारण 'अव्यक्त' पर भार देकर विस्तार किया है। प्रत्यक्ष–व्यक्त–का तो एक या दो पंक्तियों में ही वर्णन कर दिया है। निश्चय ही अखिल सृष्टि का मुख्य आधार अव्यक्त ही है। ब्रह्म से स्तंम्ब पर्यन्त–समस्त सृष्टि इसी आधार पर स्थित है। अतः अव्यक्त ही विशेष महत्वपूर्ण है। अव्यक्त से परे जो कुछ वस्तु होगी–त्रिगुण की सत्ता वहाँ चलने वाली नहीं है। इस व्यतिरिक्त का वर्णन त्रिगुण की सत्ता कर ही नहीं सकती। अतः अव्यक्त तक की ही महिमा गायी गई है। परन्तु रावण की महत्ता गाने पर राम की महत्ता बिना गाए ही गायी जाती है। हिरण्यकशिपु की महत्ता गाने पर नृसिंह भगवान् की महत्ता स्वयमेव गानी पड़ती है। उसी प्रकार भूताकाश की (व्यक्तकी) महत्ता सामान्य है, अन्तराकाश की कुछ व्यापक, परन्तु वहाँ भी जिसके आधार पर वह टिकी है, उसकी महत्ता स्वयमेव स्वीकार की जाती है। रावण, हिरण्यकशिपु की महत्ता जो भी रही हो, पर उस महत्ता का नाश जिस तत्त्व के द्वारा हुआ उसका यशोगान अपने आप होता रहा है और होता रहेगा।

'चरित्र गायन' का आधार भी यही होना चाहिए। निमित्तरूप व्यक्त तो गौण है। 'कारण में बैठा हूआ अव्यक्त मुख्य है, और उसके भी पीछे जो कुछ होगा वह परात्पर या जिसका वर्णन किया जाना शक्य नहीं है, वह अपने आप सूचित हो जाता है'– यह समझने की बात है। सामान्य प्रेक्षक चित्रपट या नाटक के मंच पर पात्र को देखता है– उसी को जानता है और उसकी स्तुति–प्रशंसा करता है। परदे के पीछे नेपथ्य में वह पात्र कौन है– क्या है, उसकी जानकारी नहीं रखता। कोई विशेष व्यक्ति यदि उस पात्र (अभिनेता) के वास्तविक जीवन की जानकारी की अपेक्षा रखकर प्रयत्न

करता है– तो वह उसे जान लेता है। परन्तु चित्र (अभिनय) जैसा जाननेवाला सामान्य व्यक्ति परदे के पीछे की रचना का विचार भी नहीं करता। इसी प्रकार अध्यात्म प्रदेश की जानकारी से अनभिज्ञ ऐसे जिज्ञासु को तत्सम्बन्धी पूर्ण जानकारी देने के लिए किंवा व्यक्त अव्यक्त एवं उससे भी परे जो कुछ है उसकी अर्थात् परदे के पीछे की अन्तराकाश की परिचिति कराने के लिए ऋषियोंने प्रणाली बनायी है। यह प्रणाली ही दिव्यदृष्टि है। इसी दृष्टि को लेकर 'अवतार रूप चरित्रों' को प्रकाशित करना आवश्यक समझा गया है। सामान्य मनुष्य की बुद्धि जहाँ नहीं चलती वहाँ व्यास एवं बाल्मीकि के द्वारा प्रदान की गयी दिव्य दृष्टि से उन उन चरित्रों (अवतारों) की जानकारी मिल जाती है। परिणाम स्वरूप खुली आँख से देखें तो प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाला निर्माल्य बन जाता है। पक्की समझ आ जाने के पश्चात् कच्ची समझ से गाया गया, जाना गया, या माना गया निर्माल्य हो जाता है– जैसा कि अर्जुन को भगवान् द्वारा दी गई दिव्य दृष्टि से हुआ।

ज्ञान के प्रभव स्थान भगवान् शंकर हैं-'ज्ञानमिच्छेद् महेश्वरात्' ज्ञान चाहिए तो महेश्वर की आराधना करो चाहे ज्ञान किसी प्रकार का हो। षोडष विद्याओं और चौसठ कलाओं के अधिपति शंकर हैं– 'ईशानः सर्वविद्यानाम्'। भगवान् शिव के ताण्डव में से एक एक कला का अविर्भाव हुआ है। रक्षण चाहिए तो आराधना करो विष्णु की "वासनाद् वासुदेवस्य वासितं भुवनत्रयय्' नहींपने की चादर ओढ़कर सब को वासित करता हुं और सब का निर्वाह भी।" 'आरोग्यं भास्करादिच्छेत्' आरोग्य के लिए भास्कर की आराधना की जाय। भौतिक जीवन में शरीर मुख्य साधना है। निरोगी रहना हो तो सूर्य की आराधना उचित है। कारण सूर्य सब का प्रसविता है। साधन–सम्पति के लिए 'श्री' की उपासना कही गयी है। जीवात्मा सब प्रकार की सानुकूलता की अपेक्षा करता है। धन से ही सब कुछ मिलता हैं'– यह मान्यता तुच्छ है। साधन सम्पन्नता में एक मात्र धन ही काम नहीं आता। आरोग्य, बल, बुद्धि, धन इष्टमित्र

ये सभी सानुकुल हों, तभी सफलता मिलती है। जो काम आरम्भ किया है वह सही सलामत पूरा हो– ऐसी निर्विघ्नता की अपेक्षा सभी करते हैं। इसी लिए व्यवहार में या धर्मकार्य में प्रथम गणपति के पूजन की पद्धति है। गणपति अर्थात् परमात्मा के विघ्नहर्ता नाम की कला।

ये अलग अलग नाम सगुणता की दृष्टि से दिए गए हैं– परन्तु सत्ता तो एक ही परमात्मा की है गणपति, रुद्र, भास्कर, विष्णु या श्री आदि स्वरूप तो उसी परमात्मतत्व के पास जाने के लिए उपास्य हैं। तत्त्व एक ही परमात्मा, वही हेतुभूत तत्त्व और कला पृथक् पृथक्। 'निर्विघ्नता'– केवल सम्पत्ति नहीं है अपितु सम्पूर्णता प्राप्त करने तक की सानुकुलता का नाम है। लक्ष्मी तो उसका एक स्वरूप है। सब प्रकार की सानुकूलता का वाचक शब्द 'श्री' है। 'सर्वेषामविरोधेन पूजाकर्म समाचरेत्' पूजाकर्म के आरम्भ से पूर्व बोले जाने वाला यह प्रार्थनामन्त्र यही मांग करता है कि पूजा कर्म बिना विरोध के हों। यहाँ प्रत्यक्ष विरोध की कल्पना ही नहीं। इस प्रकार से तो विरोध करनेवाला अनुकूल हो जाता है। (इसी लिए तो घर में प्रसंग आए तो नाराज हुए परिवारवालों को मना कर लाने की आज भी प्रथा है) और अनुकूल न भी हो तो भी अविरोधी तो रहे। अविरोध अर्थात् अनुकुल नहीं पर विरोधी भी नहीं। वास्तविक सफलता तो मिलती है तो एकमात्र परमात्म भाव से। इसी लिए प्रत्येक धर्म के आरम्भ में हम बोलते हैं– श्री परमेश्वर प्रेरणया, श्री परमेश्वरप्रीत्यर्थम्।' अतः सिद्ध है कि परमात्मतत्त्व जो परात्पर है–वही मुख्य है। चरित्र गायन की रूपरेखा में उसी परम तत्त्व का प्रधान्य रहता है जो अपनी विविध कलाओं से अभि-व्यक्त होता है। आद्य शंकराचार्य के जीवन चरित्र के अन्तर्गत यही दृष्टिकोण अपेक्षित है।

'शंकर दिग्विजय के अन्तर्गत शंकर चरित्र का प्रथम प्रकरण यहाँ बताया गया है–जब पाखण्ड बढ़ गया तो देवताओं में चर्चा

हुयी और वे शंकर के पास गए। व्यवहार में पाखण्ड बढे–इसकी चिन्ता देवतागण करते नहीं। पर यहाँ तो अध्यात्म की बात है– पाखण्ड को देवता वहाँ चलने नही देंगे। कर्म, उपासना एवं ज्ञान– इन तीनों का सामञ्जस्य है। क्रमिक उपयोग है। साधना के उत्तरोत्तर पथ हैं। एक में से दूसरे में, और दूसरे से तीसरे में जाना– यह साधना का वास्तविक क्रम है। परन्तु यहाँ यदि पाखण्ड जग जाए तो अध्यात्म नहीं होगा। नाम तो कर्म का या उपासना का और उसमें कर्म अकर्म कुछ भी बिना विवेक के प्रविष्ट हो जाया करता है– वही पाखण्ड है। आज तो उपासना, कर्म या ज्ञान एक फैशन बन गए हैं। पचास वर्ष पूर्व अक्षरशत्रु सभा के अन्तर्गत हाथ में 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' पकडकर घूमता दिखायी देता है। क्यों? आधुनिकता की छाप डालने के लिए। समय के साथ कदम मिला कर चलने की छाप बैठ जाये–इसी लिए। उपासनादि के क्षेत्रमें भी ऐसा ही हुआ दिखायी देता है। आश्रम, मण्डलों के अन्दर दृष्टि डालें तो दिखाया तो यह जाता है कि उनकी स्थापना परमार्थ के लिए हुयी है किन्तु अनुभव में यही आता है कि वहाँ के विविध प्रार्थना प्रकार, कवियों की वाणी आदि सभी मात्र प्रचार के लिए हैं। मण्डल, परिषद, सभी आश्रमों में अपने अपने प्रचार कार्यार्थ कुछ मिलाकर, कुछ काट कर और कुछ नया रच कर अनेक प्रार्थना-प्रकार बना लिए गए हैं। यह मानों फैशन है। 'अध्यात्म' की कोई खबर नहीं। कोई अधिक चतुर प्रयोजक हो तो वैदिक प्रार्थना बुलवाता है। साम्प्रदायिक हो तो सम्प्रदाय की छाप खडी करना उद्देश्य होता है। अब; यह सब अन्धता है कि नहीं ? इस प्रकार अनुकूल प्रतिकूल– कोई विचार नहीं। एक मात्र उद्देश्य–समय के साथ चलना। इस प्रकार का जो कुछ भी बिना समझ के होता है– वह सब पाखण्ड कहलाता है।

दूसरे प्रकरण में प्रत्यक्ष अवतार लेने की बात आयी। यशोभागी होने के लिए जिस प्रकार रामावतार में किंवा कृष्णावतार में देवता लोग जैसे अलग स्वरुप में अवतरित हुए थे वेसे ही इस अव-

तार कार्य में साथ देने के लिए और मिलकर यशोभागी बनने के लिए देवगण अवतरित हुए। यहाँ शंकर का अवतार 'ज्ञान-कलश' के लिए है। युद्ध की यहाँ बात नहीं। इसलिए ज्ञान के अनुरूप बातों के लिए कोई द्विज, कोई पण्डित रूप में अवतरित हुए।

तृतीय प्रकरण में कहाँ अवतार लूँ ? केरल प्रदेश में पूर्णानदीके तट पर स्थित 'कालडी' ग्राम का जीर्ण शिवालय, उसके पुजारी के घर अवतरित होने के लिए शंकर का विचार चला। चौथे अध्याय में बचपन का वर्णन-उसमें भी बडी अलौकिकता। बाद के प्रकरण में पिता का मरण, माँ का वैधव्यव्रत और फिर उपनयन संस्कार आदि। पाँचवें प्रकरण में ऋषियों का आगमन और देवकार्य की सूचना, जिसमें से फिर संन्यासग्रहण की और मकर की बात निकल कर आयी है। संन्यास ग्रहण के लिए श्री गोविन्दपाद के समीप शंकर का गमन। छठे एवं सातवें अध्याय में काशी निवास चन्द्रमौलीश्वर का दर्शन-उनकी आज्ञासे 'बद्री'की तरफ प्रस्थान, भाष्यरचना और बाद में व्यास दर्शन होकर सोलह वर्ष और अधिक की आयुष्य प्राप्ति। आठवें एवं नवम प्रकरण में मण्डन मिश्र के साथ संवाद और उनको अपने मत में सम्मिलित कर संन्यास देने की कथा। वाद के पाँच प्रकारणों में अखिल भारतवर्ष में आचार्य का दिग्विजयार्थ गमन, मठ की संस्थापना इस प्रकार विषय आता है। अन्तमें १६ वें प्रकरण में कश्मीर शारदापीठ के अन्तर्गत सर्वज्ञता का सम्मान प्राप्त किया और फिर वहाँ से केदारनाथ जाकर देह विलीन करके अपने निजधाम पधारने की कथा है। इस प्रकार १६ प्रकरणों में आया हुआ श्री शंकराचार्य का चरित्र अपने पास पुराने से पुराना उपलब्ध हैं। इसी के आधारपर श्री शंकराचार्य की जन्मतिथि निर्धारित की गई है जिसे निमित्त मान कर ज्ञान यज्ञ चलते हैं। प्रत्यक्ष जन्मतिथि की किसी को खबर नहीं फिर भी सम्प्रदाय में मान्य बैसाख सुदी पञ्चमी की तिथि सर्वत्र सामान्यतया मनायी जाती है। चरित्र गायन में घटनाक्रम देने की दृष्टि की अपेक्षा उसके पीछे कारण रूप में विद्यमान आधिदैविक या आध्यात्मिक दृष्टि रखना

मुमुक्षु के लिए अति आवश्यक है। कारण, इस आधिदैविक दृष्टि रखने से ही 'आल्हाद' नाम का प्रकार सामने आता है। 'पुनाति वाणीं सकृद् यस्यगानम्–' क्षणाच्च चेतो विमलीकरोति, अर्थात् एकबार भी जिसके (महात्मा के) चरित्र का गायन वाणी को पवित्र कर देता है और चित्त को विमल बना देता है–यही ऐसे महात्माओं के चरित्र गायन का सच्चा फल है।

(सावशेष–धारावाहिक)
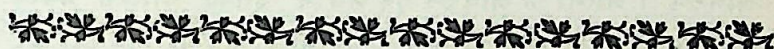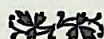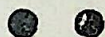
"सच्चे ज्ञान को उस एकत्व पर अवश्य पहुँचना चाहिए जो वस्तुओं की समष्टि का अतिक्रमण करते हुए भी उसका आलिङ्गन करता है– उस एकत्व पर नहीं जो उसका आलिङ्गन करने में असमर्थ होता है और उसका त्याग कर देता है।

– श्री अरविन्द

पञ्चकोशात्मक अध्यास की योगद्वारा निवृत्ति

रामरत्न शास्त्री
शोध सहायक
दा. सा. विभाग, कैवल्यधाम,
लोनावला–पुणें.

आवरणार्थक कुश् धातु से निष्पन्न कोश का एक अर्थ है 'खोल' 'आवरण'। आत्मा के आवरण रुप अर्थ में इसका मौलिक प्रयोग औपनिषद है। भारतीय ऋषियों ने विविक्त अरण्यों में रह कर अपनी तपः सिद्ध अनुभूति द्वारा अध्यात्म की चरमावस्था को प्राप्त करने के मार्ग में जो ज्ञान प्राप्त किया उसके द्वारा मानव व्यक्तित्व की समग्र कल्पना अविज्ञात नहीं रह सकी। उन्होंने चेतन और जड़ के सम्बन्ध को इतने स्पष्ट रूप से व्यक्त किया कि आधुनिक शरीर विज्ञान एवं मनोविज्ञान दोनों के लिये चिन्तन की सामग्री प्रस्तुत कर रहा प्रतीत होता है। सूक्ष्म एवं स्थूल शरीर का विवेचन ऋषियों के मत से योग तथा अन्य दर्शनों का आधार था। इतना ही नहीं उन्होंने अपनी सूक्ष्म प्रज्ञा के प्रकाश में विलक्षण वस्तु 'अहं' की खोज कर डाली जिसको उन्होंने 'आत्मा' शब्द से अभिहित किया। केवल पाञ्चभौतिक शरीरमात्र 'अहं' शब्दवाच्य नहीं हैं अपितु शरीरातिरिक्त तदवच्छिन्न एक चेतन-शक्ति भी उस शरीर का नियन्त्रण करती है। यही 'आत्मा' है। वस्तुतः उक्त पाञ्च-भौतिक स्थूल देह और चेतन सूक्ष्म आत्मा परस्पर विरुद्ध धर्मानुस्यूत होते हुए भी सम्बद्ध जैसे हो जाते हैं। जब हम अपने शरीर,

इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के सम्बन्ध में बातें करते हैं तो यह बात बिल्कुल स्पष्ट रहती है कि इन पदार्थों का सम्बन्ध किसी ऐंसी सत्ता या वस्तु से है जो इन सबके परे और ऊपर है। अपोह क्रिया द्वारा सरलता पूर्वक देख सकते हैं कि शरीर, मन, बुद्धि आदि आत्मा नहीं किन्तु इसके साथ सम्बद्ध हैं। वही जीवात्मा का स्वरूप है।

आत्मतत्त्व के ऊपर पाँच प्रकार के आवरण हैं। इन्हीं आवरणों को 'कोश' की संज्ञा दी गई है। कोश का कार्य हैं 'वस्तु' को आवृत करलेना–ढक देना। कोश के कारण 'वस्तु' का प्रकाशन नहीं होपाता और भ्रान्तिवश 'अवस्तु' को ही 'वस्तु' समझ लिया जाता है। यदि किसी प्रकार इन कोशों को हटा दिया जाये तो निश्चय ही 'वस्तु' का साक्षात्कार हुये बिना नहीं रहेगा।

आत्मा ही 'वस्तु' है। इसके ऊपर सब से प्रथम आवरण 'आनन्द मय कोश' है। इसके अन्तर्गत कारण शरीर आता है। आनन्दमय-कोश के ऊपर 'विज्ञानमय कोश' है। इसमें बुद्धि और अहंकार आते हैं। इसके ऊपर 'मनोमय कोश' है जिसके अन्तर्गत मन एवं पंच ज्ञाने-न्द्रियाँ आती हैं। मनोमय कोश के ऊपर 'प्राणमय कोश' है। इसमें पञ्चकर्मेन्त्रियाँ और पञ्च प्राण आते हैं। सब से ऊपर 'अन्नमय-कोश' है। इस 'अन्नमय कोश' के अन्तर्गत पञ्चभौतिक तत्त्वों से निर्मित स्थूल शरीर है। इसी में स्थूल इन्द्रियाँ हैं।

अधिक स्पष्ट करें तो कह सकते हैं– यह हमारा स्थूलशरीर (पाञ्भौतिक) 'अन्नमय कोश' है। इसमें क्रिया शक्ति प्राणमय कोश है। इच्छा शक्ति 'मनोमय कोश' है। स्थूल शरीर, क्रिया एवं इच्छा का अभिमान 'विज्ञानमय कोश' है। इन सब में प्राप्त सुखानुभूति 'आनन्दमय कोश' है। इन सब का साक्षी आत्मा है।

आनन्दमय कोश के कारण 'आत्मा' परिच्छिन्न सुखविशिष्ट रूप में प्रतीत होता है।

विज्ञानमय कोश आत्मा को कर्ता, ज्ञाता, अभिमानी बना देता है।

मनोमय कोश के कारण आत्मा संशय युक्त शोक मोहादि से व्याप्त जैसा प्रतीत होता है।

प्राणमय कोश आत्मा को कर्तृत्वशील अर्थात् वक्ता, दाता, गतिशील, क्षुत् पिपासायुक्त जैसा बना देता है।

'अन्नमय कोश' से आत्मा जब आच्छादित होता है तब वह परिच्छिन्न, विभक्त, तापयुक्त एवं जरा जन्म मृत्यु आदि से ग्रस्त प्रतीत होने लगता है।

वस्तुतः आत्मा शरीर, प्राण, मन, बुद्धि नहीं है। पञ्चकोशात्मक अज्ञान के कारण आत्मा शरीर आदि में अध्यस्त हो जाता है। यही स्वरूपाभास है। इससे उबरने के लिये हमें विचार करना होगा शरीर में अस्थि, मांस, चर्म आदि के रूप में जो 'अन्नमय कोश' है वह 'मैं नहीं हूँ। क्रिया शक्ति रूप प्राणमय कोश' 'मैं' नहीं हूँ। क्रिया करने की जो इच्छा होती है वह 'मनोमय कोश' मैं नहीं हूँ। जिसमें इच्छा होती है वह इच्छाओं का कर्ता 'विज्ञानमय कोश' मैं नहीं हूँ। शरीर की क्रिया में जो सुख (आनन्द) मिलता है वह 'आनन्दमय कोश' मैं नहीं हूँ। फिर मैं क्या हूँ? केवल उपलब्धि हूँ। इतनी बात कही जा सकती हैं कि जिसको सब मालुम पडता है वह मै 'मैं' हूँ। ये जो वस्तुयें मालुम पडती है वह मैं मैं' नहीं हूँ।

इससे स्पष्ट है कि उक्त पांचों कोश शुद्ध चेतन तत्त्व आत्मा के ऊपर ऐसे आवरण या कंचुक हैं जो जीवात्मा को अपने स्वरूप का साक्षात्कार नहीं होने देते। यह 'मिथ्याज्ञान' है। जिस अधिष्ठान में जिस वस्तु का अत्यन्ताभाव हो उसी में उसी वस्तु का भासना मिथ्या है। जैसे रस्सी में सर्प की प्रतीति। पञ्चकोशों में आत्मा का अत्यन्ताभाव है, केवल अध्यास के कारण उनमें मात्र उसकी प्रतीति होती है।

यही मिथ्यात्व, अज्ञान, माया, अविद्या आदि नामों से अभिहित किया गया है। विभिन्नदर्शनों की दृष्टि में अविद्या, माया आदि को लेकर मतवैभिद्य बना रह सकता है किन्तु समस्त दर्शन किसी न किसी रूप में अविद्या को हटाना अभीष्ट मानते हैं फिर चाहे उनका लक्ष्य मोक्ष, निर्वाण, कैवल्य अथवा स्वरूपावस्था की प्राप्ति हो।

सत्य तो यह है जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति में जितने भी विषय हैं वे अनुभूयमान, प्रतीयमान पदार्थ हैं। वह सब न 'मेरा' है– न 'मैं' हूँ क्योंकि वह सब यथास्थान छूट जाता है। विचार का विषय यह है कि जब 'मैं' और 'मेरा' संसार कोई पदार्थ नहीं है तो उनके संयोग वियोग में जो सुखी दुःखी होने का अभिमान है वह एकदम मिथ्या है। सम्पूर्ण प्रपञ्च ही अविद्याकृत है। अतः पञ्चकोशों में 'आत्मा' का अभिज्ञान खोजना उचित नहीं होगा। आत्मा का इनसे कोई सम्बन्ध नहीं है। मात्र सम्बन्धामास है जिसे हटाना है।

यदि प्रश्न किया जाये कि अनात्म में आत्म तत्त्व का आभास कहाँ से आया? उत्तर है– भूल से, अविद्या से। पातञ्जलयोगसूत्र में अविद्या की परिभाषा इस अभिप्राय को आत्मसात किये हुए सी स्पष्ट प्रतीत होती है–अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यसुखात्मख्यातिर-विद्या, अर्थात् अनित्य अशुचि दुःख तथा अनात्मपदार्थों में क्रमशः नित्य शुचि, सुख तथा आत्मबुद्धि बना लेना ही अविद्या है। इसी अविद्या की निवृत्ति में हमारा चरम लक्ष्य निहित है।

प्रत्येक मानव चाहता है 'आत्यन्तिकदुःखनिवृत्ति'। पंचकोशों में आत्मख्याति बना लेना ही हमारे अनन्त दुःखों का कारण है– स्वयं पञ्चकोश नहीं। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश– ये न सुखद हैं, न दुःखद। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द– ये भी सुखद दुःखद नहीं हैं। इनका कारणभूत अहंकार सुख दुःख का हेतु नही। नेत्र, कर्ण, नासिका, रसना, त्वचा आदि इन्द्रियाँ भी सुख दुःख नहीं देतीं। पंचप्राण भी सुख दुःख नहीं देते। इन सब का व्यवस्थापक मन सुख

दुःख का कारण नहीं। बुद्धि भी केवल समझती हैं कि यह सुख है यह दुःख है। यह सुख दुःख देती नहीं। जब प्रकृति एवं प्रकृति के समस्त विस्तार में कोई दुःख नहीं देता तो दुःख आता कहाँ से हैं ? एक ही उत्तर है– अविद्या से। अविद्या के कारण हम जिस वस्तु से सम्बन्ध जोडते हैं वही सुख दुःख देती है।

भारतीय वेदान्त (अद्वैत) दर्शन इसी अविद्या की निवृत्ति का प्रमुख साधन विद्या को मानता है। इसकी मान्यता है कि यह पंच-कोशात्मक समस्त प्रपञ्च अविद्या कृत है–"द्वैतप्रपञ्चस्याऽविद्या-कृतत्वात्"। अतः अविद्या से उत्पन्न हुई वस्तु विद्या से ही मिटेगी। "विद्यया तदुपशमः स्यात्।"

महर्षि पतञ्जलि भी प्रकारान्तर से यही बात कहते हैं। वे अविद्या को अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश की प्रसवभूमि मानते हैं–"अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्" यो. सू. २–४। इस अविद्या के ही कारण दृष्टा और दृश्य का ठीक ठीक ज्ञान नहीं हो पाता और चित्स्वरूप होनें पर भी अविद्या के कारण जब अहंकार के साथ इस प्रकार एक हो जाते है कि अहंकार कोही अपना स्वरुप समझने लगते हैं तब इसको ही अस्मिता कहते हैं। यही चित् + जड़ ग्रन्थि है, जिसका छूटना अत्यन्त कठिन है। महात्मा तुलसीदास जी के शब्दों में—

जड़ चेतनहि ग्रन्थि परि गई।
जदपि मृषा छूटत कठिनई। रा. मानस उत्तरकाण्ड ॥

इसी अस्मिता रूपी ग्रन्थि से राग द्वेष और अभिनिवेश रूपी क्लेश-जन्म लेते है। योगदर्शन कहता है कि अविद्या के परिवार को नष्ट कर दो। इसका नाश विवेकख्याति से होगा : चित्तवृत्ति के निरोध होनें पर समाधि में जब द्रष्टा अपने स्वरूप की ओर उन्मुख होगा तब उत्त्थान दशा में जान जाएगा कि पञ्चकोशात्मक किसी प्रपंच

से उसका संबन्ध नहीं है। योग का निदेश है दुःखक्लेशादिक सभी आविद्यक हैं। अतः अविद्या की निवृत्ति से समस्त क्लेश मिट जायेगा।

वेदान्त (अद्वैत) की मान्यता है कि पञ्चकोशात्मक प्रपञ्च के साक्षीभूत आत्मा को अविद्या की निवृत्ति द्वारा उससे पृथक् करना है। अपने स्वरूप की उपलब्धि में ज्ञान ही एकमात्र साधन है। अतः स्वरूपावस्था की प्राप्ति हेतु साधनान्तर की अपेक्षा नहीं। रज्जु में सर्प की प्रतीति को दूर करने के लिये केवल अज्ञान की निवृत्ति अपेक्षित है। इस दशा में अज्ञान की निवृत्ति ही सर्पनिवृत्ति है। सर्प को दूर करने या रज्जु को जानने के लिये अज्ञान की निवृत्ति के अतिरिक्त दूसरा कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता।

इसका यह अर्थ नहीं है कि ज्ञानोत्पत्ति के पूर्व भी किसी साधन की आवश्यकता या उपयोगिता नहीं है। सत्य तो यह है कि 'तत्त्व-मसि' इस महावाक्य में 'त्वं' पदार्थ का ज्ञान प्राप्त करने के लिये 'योग साधना' एक उत्तम मार्ग सिद्ध हो सकती है। सम्पूर्ण चित्त-वृत्तियों का निरोध करके ही यह अनुभव होता है कि 'मैं असंग हूँ। 'दृष्टा' हूं तथा 'तत्' ही 'त्वं' है।

जीव की उपाधि अन्तकरण की शुद्धि के लिये यम नियमादि का पालन आवश्यक है। अन्तकरण की शुद्धि के लिये यम नियमादि का पालन आवश्यक है। अन्तःकरण में जो काम क्रोध आदि हैं उनकी निवृत्ति के लिये यम नियमादि का अनुष्ठान आवश्यक है क्योंकि काम क्रोधादि से दूषि त चित्त न कभी ध्येयाकार हो पाता है और न उसकी वृत्तियाँ ही एकाग्र होती हैं।

ज्ञान के अतिरिक्त दूसरा कोई साधन करना आवश्यक नहीं यह बात अन्तःकरण शुद्धि के पश्चात् ही ठीक है। अभीष्ट योग्यता की सिद्धि से पूर्व ऐसी बात करना अनर्गल प्रलाप है। 'योग' से यही योग्यता प्राप्त होती है। जब योगसाधक किसी स्थूल ध्येय को आल-

म्बन बना कर उसमें चित्त ठहराता है तब प्रथम स्थूल वस्तु को देखता है। ज्यों ज्यों योग्यता बढ़ती जाती है त्यों त्यों उसके सूक्ष्म अवयव भासित होते जाते हैं। यहाँ तक कि स्थूल भूतों के कारण सूक्ष्मभूतों का भी साक्षात् होने लगता है। एकाग्रता के और बढ़ने पर यह सूक्ष्मविषयक ग्राह्यवृत्ति भी बन्द हो जाती है और तन्मात्रा ओं के कारण ग्रहण रूप सत्वप्रधान अहंकार का उसकी आनन्द रूप प्रिय प्रमोद आदि वृत्तियों से साक्षात् होता है। एकाग्रता की सूक्ष्मता और सत्त्वगुण की वृद्धि के साथ साथ यह आनन्द रूपवाली अहंकार की वृत्ति भी सूक्ष्म होती जाती है यहाँ तक कि अहंकार के कारण अस्मिता का अहंकार से रहित उसकी वृत्ति 'अस्मि', 'अस्मि' से से साक्षात् होने लगता हैं–अर्थात् 'मैं' हूँ (अस्मि) केवल यही ज्ञान शेष रह जाता है। इस वृत्ति की सूक्ष्मता में पुरुष और चित्त में भिन्नता उत्पन्न करनेवाली विवेकख्याति रुपी वृत्तिका उदय होता है। यहाँ ध्यान रखने की बात यह है कि इस विवेक ख्याति में भी आत्मस्थिति का अभाव प्रतीत करानेवाली पर वैराग्य की 'नेति' 'नेति'–यह स्वरूपावस्था ही है, 'यह आत्मस्थिति नहीं है'–के अभ्यास-पूर्वक असम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि होती है।

मेरा प्रतिपाद्य विषय यह है कि अभ्यास की एक प्रणाली कोशों के द्वारा अन्तर्मुख होते हुए स्वरूपस्थिति प्राप्त की जा सकती है जिसका संकेत कठोपनिषद् में इस प्रकार मिलता है–

यच्छेद् वाङ्मनसीप्राज्ञ–
स्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छे–
त्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥

(कठो. १.३.१३)

"बुद्धिमान् वाणी (ज्ञानेन्द्रिय) को मन में लय करे, उसको (मन को) ज्ञानात्मा (बुद्धि) में लय करे बुद्धि को महान् आत्मा

(महत्तत्त्व) में लय करे और उस महत्तत्त्व को शान्तात्मा में लय करे।"

उक्त औपनिषद भाव से यही व्यक्त होता है कि किसी भी प्रकार हो जीवात्मा को स्थूलदेह से अहंभाव हटाकर आत्मस्वरूप में स्थित कर लेना चाहिये। यह स्थिति योगसाधना के द्वारा अच्छी प्रकार संभव है।

कोशों में आत्माध्यास की निवृत्ति योग द्वारा किस प्रकार साध्य है उसे हम इस प्रकार समझ सकते हैं–

अन्नमय कोश से आत्माध्यास हटाना आसन एवं प्राणायाम की सिद्धि से संभव है। आसन सिद्धि के उपाय में महर्षि पतञ्जलि ने बताया है– 'प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्' यो सू. २-४७ अर्थात् आसन प्रयत्न की शिथिलता और अनन्त में समापत्ति द्वारा सिद्ध होता है। शरीर को प्रयत्नशून्य और आकाशादि में रहनेवाली अनन्तता में चित्त की व्यवधान रहित समापत्ति (तद्रूपता) प्राप्त हो जाने से आसन सिद्धि हो जाती है। इस प्रकार शरीर और मन को क्रियारहित करने से शरीर का अध्यास छूट जाता है। अपरिच्छिन्न आकाशादि में जो अनन्तता है उसमें चित्त को तदाकार करने से चित्त निर्विषयक होकर स्थिर हो जाता है। इस सन्दर्भ में भोजवृत्ति के अनुसार प्रदत्त व्याख्या विशेष महत्व की है। "यदाचाकाशादिगत आनन्त्ये चेतसा समापत्तिः क्रियतेऽव्यवधानेन तादात्म्यमापद्यते तदा देहाहंकाराभावान्नासनं दुःखजनकं भवति।" इतना ही नहीं आसन की सिद्धि से द्वन्द्वों का आघात भी समाप्त हो जाता है- 'ततो द्वन्द्वानभिघातः'– २.४८ यो. सू।

प्राणायाम भी अन्नमय कोश में आत्माध्यास को समाप्त करता है। प्राणायाम का सुनिश्चित परिणाम ही है 'विवेकज्ञान' पर पडे हुए आवरण का क्षीण हो जाना– 'ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्' अर्थात् विवेकज्ञान रूपी प्रकाश तम तथा रजोगुण के कारण अविद्यादि क्लेशों के मलों से ढका हुआ है। प्राणायाम के अभ्यास से जब यह

आवरण क्षीण हो जाता है तब वह प्रकाश प्रकट होने लगता है। इतना ही नहीं प्राणायाम से मन स्थिर होता है– जैसे कि–'प्रच्छर्दन-विधारणाभ्यां वा प्राणस्य'– (१.३४. यो. सू.) और उसमें धारणा की योग्यता प्राप्त हो जाती है– 'धारणासु च योग्यता मनसः' (२.५३. यो. सू.), । प्राणों के आयाम द्वारा चित्तवृत्ति का निरोध-होकर स्वरूपोन्मुख होना 'देहाध्यास' को समाप्त करना ही है ।

प्राणमय कोश की विजय प्रत्याहार और धारणा की सिद्धिसे हो जाती है । प्रत्याहार द्वारा इन्द्रियों का विषय संप्रेषण रुकता है। और धारणा से एकाग्रता की वह आधारशिला निर्मित होती है जिस पर ध्यान एवं समाधि का भव्य प्रासाद खड़ा किया जाता है। प्रत्याहार एवं धारणा की साधना द्वारा प्राणमय कोश में विद्यमान क्रिया शक्ति के प्रति आत्माभिमान दूर हो जाता है और प्राण एवं इन्द्रियों का विकार रूपी प्राणमय कोश का आत्मा पर छाया हुआ आवरण हट जाता है ।

मनोमय कोश की वितर्कभावना द्वारा विजय हो जाती हैं। इससे ग्राह्य रूप किसी स्थूल विषय, वस्तु पर चित्त को ठहरा कर संशय विपर्यय रहित उसके यथार्थ स्वरूप को समस्त विषयों सहित साक्षात् किया जाता है जहां से चित्त को सूक्ष्मस्वरूप का स्वयं साक्षात् होने लगता है । इस प्रकार मनोमय कोश से आत्माध्यास को हटाने में वितर्कानुगत संप्रज्ञात समाधि का महत्वपूर्ण योगदान समझा जाना चाहिये ।

'विज्ञानमय कोश' की विजय विचारानुगत और उसकी उँची अवस्था आनन्दानुगत समापत्ति द्वारा हो जाती है ।

आनन्दमय कोश की विजय निर्विचार की सबसे ऊँची अवस्था अस्मितानुगत और ऋतम्भरा प्रज्ञा अर्थात् संप्रज्ञात समाधि की सब से ऊँची अवस्था विवेकख्याति से होती है। यही विवेकख्याति स्वरूपा-अवस्था का हेतु है ।

उक्त चारों भावनाओं द्वारा किसी विषय को आलम्बन करके (ध्येय बनाकर) निरालम्ब (निर्बीज अर्थात् असम्प्रज्ञात) समाधि तक तहुँचने की प्रक्रिया सम्पन्न हो जाती है। यहाँ कोशों द्वारा आरंभ में आलम्बन का अभाव करते करते अन्त में अभाव करने-वाली वृत्तिका भी अभाव करके निरालम्ब समाधि की सिद्धि करना अभीष्ट रहा है। दोनों में प्रक्रिया भेद होते हुए भी लक्ष्य की समा-नता दिखाई देती है। इनमें से प्रथम प्रक्रिया योगनिष्ठा की है और दूसरी ज्ञाननिष्ठा की।

निष्कर्षतः आत्माध्यास हटाने का अभिप्राय आत्मा को कोशों से पृथक् करके देखना है। इस तात्विक विचार को क्रियात्मक रूप दिया है योग ने। वस्तुतः योगाभ्यास करते समय अन्नमय कोश से आनन्दमय कोश की ओर जाना पड़ता है तथा उससे भी आगे। यह स्थूल से सूक्ष्म की ओर, देह से आत्मा की ओर, जड़वाद से अध्यात्म की ओर जाने की साधनात्मक यात्रा हैं। अन्नमय कोश से आत्मा-ध्यास को हटाकर क्रमशः बढ़ते हुए अन्त में आनन्दमय कोश में स्थिर होकर ऐसी भावना करे कि आत्मा इनसे परे–इनका दृष्टा है। इस प्रकार क्रमशः तीनों स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीरों में भो यही भावना की जानी चाहिए। यह विदेहभावनात्मक आत्मस्थिति की प्राप्ति यमनियमादि योगाङ्गों के अनुष्ठान से सम्यक्तया साध्य है। इसीका विवेचन प्रस्तुत शोध निबन्ध में किया गया है।

'अस्तु' मानव शरीर भोगायतन हैं साथ ही साथ इसमें कर्म की स्वतन्त्रता है जिससे पूर्णत्व की ओर बढ़ना संभव हो सकता है। पूर्णत्व अथवा परमार्थ सिद्धि के लिये मानव शरीर महत्व का स्थान रखता है। इसके ज्ञान पर ही विश्वातीत सत्ता का ज्ञान भी अवलम्बित है। अतः भारतीय परम्परा में मानव शरीर का यथार्थ ज्ञान जिन उद्देश्यों से प्रेरित है वे भौतिक शरीर विज्ञान की परम्परा में लक्षित नहीं होते।

सत्य तो यह है कि अभी हमारा भौतिक दृष्टि से भी वैज्ञानिक ज्ञान अपूर्ण है जिसके द्वारा हमें अन्नमय कोश अर्थात् स्थूल शरीर के समस्त सूक्ष्म तथा सूक्ष्मतम अंगों का भी पूरा ज्ञान प्राप्त नहीं है। अन्य सूक्ष्म जगद्विषयक तथा आध्यात्मिक ज्ञान की तो चर्चा करना ही बेकार है। वे अपनी अनभिज्ञता के कारण सूक्ष्म विषयों का अस्तित्व ही अस्वीकार कर बैठते हैं। योगी लोगोंने अनेकों इन्द्रियातीत विषयों का ज्ञान स्वयं प्राप्त कर दूसरों को भी प्रदान किया है। समाधि प्रज्ञा प्रकाश में कुछ भी अज्ञात नहीं रह जाता है। विद्वानों को इस ओर ध्यान देना चाहिए तथा इस बात का अन्वेषण करना चाहिये कि भारतीय प्राचीन शरीर विज्ञान जिसमें पञ्चकोश, षट्-चक्र, सोलह आधार, तीन लक्ष्य, नाडी चक्र, पञ्चआकाशादि आते हैं– का ज्ञान आधुनिक पाश्चात्य शरीर विज्ञान की तुलना में कौन सा स्थान प्राप्त करता है। पुनश्च विद्वानों को इस बात का भी अन्वेषण करना चाहिये कि प्राचीन विद्वानों ने यह ज्ञान कैसे प्राप्त किया था? क्या इस पद्धति से आज भी यह ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है?
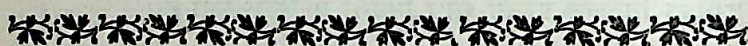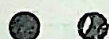
मनुष्य के भीतर जो कुछ वास्तविक है, उसे छिपाने के लिए जब वह सभ्यता और शिष्टाचार का चोला पहनता है, तब उसे संभालने के लिए व्यस्त होकर कभी कभी अपनी आँखों में ही उसको तुच्छ बनना पड़ता है।

—जयशंकर प्रसाद
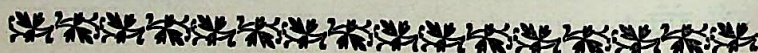
चेतना की खोज और बायोफीडबॅक
(Bio Feed Back)

रणजीतसिंह भोगल
शोधसहायक, वैज्ञानिक अनुसंधान विभाग
कैवल्यधाम, लोनावला

योगी अरविंद ने चेतना की असीमित शक्ति को अपनी विशाल साहित्य संपदा द्वारा आधुनिक भाषा में हमारे सामने रखने का प्रयास किया है। योगी अरविंद के अनुसार "षट् चक्रों को उद्घाटित कर भौतिक प्रकृति में उनकी शक्ति को संचारित कर दिया जाएगा तो मानव अनंत संभावनाओं और क्षमता ओं का स्वामी हो जाएगा"। यह लगभग सर्वमान्य है कि योग की विभिन्न प्रक्रियाएँ हमें "सम्प्रसाद" की ओर ले जाती हैं। चेतना का 'आस्वाद' दिलाती हैं, चेतना तक पहुँचाती हैं।

भारतीय दर्शन के अनुसार सृष्टि के तीनों रूपों स्थूल(Gross) सूक्ष्म (Subtle) और अव्यक्त (Unmanifested) से भी परे एक अन्य चैतन्यतत्त्व है। इस चैतन्य तत्त्व की उपस्थिति मात्र से ही प्रकृति सृजन प्रक्रिया के लिए प्रेरित होती है।

आधुनिक विज्ञान 'बाह्य जगत' को जितना जान पाया है, तुलना में वह मानवीय अंतर्जगत (मस्तिष्क, मन, चित्त और चिति) से उतना ही अनभिज्ञ रहा है। इधर वैज्ञानिकों ने इस 'कटु सत्य' को समझकर मनुष्य की अंतःक्रियाओं का अभ्यास शुरू किया हैं, ताकि वह आधुनिकता–जन्य त्रासदी पर विजय प्राप्त कर मनोकायिक संतुलन की अपनी मानवीय आवश्यकता फलीभूत कर सके। उन्होंने

यह सोचना शुरू किया कि योगी किस प्रकार शरीर की सूक्ष्म आंतरिक क्रियाओं पर नियंत्रण प्राप्त कर 'उच्चतम' चेतना को प्राप्त करते हैं? चेतना के विभिन्न स्तर क्या हैं? इन स्तरों में संभावित परिवर्तन की क्या प्रक्रिया है? इस उद्देश्य के साथ जब उन्होंने शरीर के भीतर झांकना शुरू किया तब उन्हें आश्चर्यपूर्ण संभावनाएं दृष्टि-गोचर हुईं, अनुभूत हुईं।

दार्शनिक डेकार्टे (Descarte) ने चेतना का आसन मनुष्य की पिनियल ग्रंथि (Pineal gland) को माना है। प्राचीन विचारक प्लेटो के अनुसार मस्तिष्क ओर सुषुम्ना नाडी प्राणशक्ति के माध्यम हैं। चेतना की खोज में वैज्ञानिकों की दृष्टि मस्तिष्क पर गडना स्वाभाविक था। मस्तिष्क–स्थित १० वॉट की विद्युत शक्ति और विभिन्न रसायन किस प्रकार विचारों, भावनाओं, सपनों, स्मृतियों, अहंभावना इत्यादि में रूपांतरित होते हैं, यह वैज्ञानिकों के लिए एक चुनौती थी। बस फिर क्या था! डॉ. वाइल्डर पेनफींल्ड और वाल्टर हेस ने मस्तिष्कस्थिति, स्मृति, भाषा, आनंद, पीडा जैसे विभिन्न क्षेत्रों को ढूंढ निकाला। ओल्डस् और मिल्नर ने अपनें प्रयोगों में ऐसी व्यवस्था की जिससे चूहे स्वयं ही मस्तिष्क के अपने 'आनंद-क्षेत्र' को उद्दीपित कर सकें। परिणाम यह रहा कि चूहों ने बार-बार (प्रति घंटे पांच हजार बार की गति से) अपने 'आनंद क्षेत्र' को उद्दीपित करना शुरू किया जब तक कि २४ घंटों के बाद वे थक कर बेहोश नहीं हो गए। कुछ मिनटों के बाद जब वे होश में आए तो फिर वही बात! पास ही रखे हुए सुस्वादु भोजन की ओर उनका ध्यान तक नहीं गया। ओल्डस् ने चूहों के मस्तिष्क का वह क्षेत्र भी खोज निकाला जो यह निश्चित करता है कि चूहे के लिए अच्छा क्या है, बुरा क्या है; यानी 'सदसद् विवेक बुद्धि'! वैज्ञानिकों ने अटकल लगाई कि चूहों की भांति हायपोथलॅमस (Hypothalamus) का नीचला भाग मनुष्य–मस्तिष्क में 'आनंद क्षेत्र' हो सकता है; और संभावना यह भी हो सकती है कि योगी ध्यान और समाधि की अवस्था में इसी क्षेत्र को जानें अनजाने में उद्दीपत–प्रचोदित करते

हों । रॉबर्ट हीथ ने पाया कि छिन्नमनस्कता (Schizophrenia) के मरीज लिम्बिक सिस्टम (Limbic system) के एक हिस्से में गडबडी के कारण आनंद का अनुभव नहीं ले पाते । हो सकता है यह लिम्बिक सिस्टम ही चेतना का आसन हो !

बर्कले (अमेरिका) के वैज्ञानिकों नें अपने निरीक्षण में पाया कि चूहों को खिलौने दिये जाने पर उनके मस्तिष्क का वजन उन चूहों की तुलना में बढ गया, जिन्हें खेलने के लिए खिलौने नहीं दिए गए थे । क्या यह अभ्यास द्वारा प्राप्त चेतना शक्ति थी, जिसके फल-स्वरूप मस्तिष्क का वजन बढ गया, और चूहे अधिक बुद्धिमान् हो गए?

रॉक फेलर विश्वविद्यालय के डॉ. वेइस ने दो गुटों में विभाजित चूहों में से एक गुट को समय–समय पर दिए जानेवाले विद्युत झटकों से अनभिज्ञ रखा, जब कि दूसरे गुट के चूहों को विद्युत झटकों की पूर्व सूचना दी जाती रही । पहले गुट के चूहों का वजन कम हो गया रक्त–हारमोन का स्तर बढ गया, मस्तिष्क में नॉरएपिनेफ्रिन (Nore epinephrine) की मात्रा घट गई और वे अल्सर से ग्रस्त हो गए । दूसरे गुट के चूहे 'प्रसन्न' और स्वस्थ रहे । डॉ. मिलर ने इससे निष्कर्ष निकाला कि चुनौती पर मात करने से मन-शरीर को स्वास्थ्य लाभ होता है । यहाँ एक प्रश्न उभरता है कि चुनौती पर मात करने से क्या चेतना 'शक्तिशाली' हुई जिससे चूहों को लाभ पहुँचा?

शरीर और मन का आपसी संबंध वैज्ञानिकों ने माना है। मनो-वैज्ञानिक तनावों के परिणाम–स्वरूप पचन–श्वसन तंत्र पर प्रभाव सर्वविदित है । दूसरी ओर, स्वस्थ मनुष्य आम तौर पर प्रसन्न होते हैं, व्याधियों से ग्रस्त मनुष्य तनाव–ग्रस्त पाए गए हैं । वैज्ञानिकों ने इन उदाहरणों पर भी गौर किया जब गंभीर रूप से बीमार व्यक्ति किसी महत्त्वपूर्ण घटना के इन्तजार में अपनी संभावित मृत्यु का समय तक स्थगित कर देता है । वर्षो से निःसंतान रही महिलाएं

बच्चा गोद लेने के तुरंत बाद गर्भवती पायी गई हैं। अब यह सिद्ध हो चुका है कि हायपोथलॅमस (Hypothalamus) से स्रवित हारमोन हमारी शरीरवृद्धि, गर्भ–धारणा, पुरुषकोष और हमारे तनावों के प्रति व्यक्तिगत प्रतिक्रिया आदि पर नियंत्रण रखते हैं। तो उपर्युक्त उदाहरणों में क्या चेतना हायपोथलॅमस पर प्रभाव डालती है? आज चेतना के विभिन्न स्तर यानी नींद, चरम सुखानुभूति, चिंता और दिवास्वप्न–सदृश–स्थिति (Reverie) वैज्ञानिकों के शोध विषय बन चुके हैं।

बायो फीड बॅक (Bio Feed Back)

अपेक्षाकृत कल्पनाशील वैज्ञानिकों की एक नई पीढी हाल ही में उभर कर सामने आई है, जिसे विश्वास है कि मस्तिष्क में न तो चीरफाड़ की जरूरत है और न ही ऊट पटांग रसायनों के उपयोग की. इन वैज्ञानिकों की अपनी एक सफल विद्या है बायो फीड बॅक या जैविक प्रतिपुष्टि.

बायो फीड बॅक वास्तव में ज्ञान-अर्जन की प्रक्रिया का ही एक परिमार्जित रूप है। साधारणतः हम सभी एक प्रकार की प्रतिपुष्टि पर निर्भर रहते हैं। कोई भी कार्य करते समय हम आँखों, कान, हाथ, पैर तथा अन्य लोगों की अनेक-विध प्रतिक्रियाओंके बल पर जान पाते हैं कि कार्य सुचारु रुप से हो रहा है या नहीं। हम सभी को सिरदर्द, पेटदर्द इत्यादि भीतरी गड़बडी का ज्ञान हो जाता है। कुछ संवेदनशील व्यक्ति किंचित् क्रोध और किंचित् आवेशावस्था में यह कहते सुनें जाते हैं कि उनका शरीर और मन पर्याप्त रुप से उनका साथ नहीं दे रहा है, अतः वे कुछ आराम के बाद फिर काम में जुटेंगे : बायो फीड बॅक इस तत्व पर कार्य करता है कि जीव को उसके शरीर की आंतरिक क्रियाओं की सही जानकारी दी जाए तो वह स्वयमेव उन पर नियंत्रण प्रस्थापित कर सकता है।

शरीर के भीतरी सूक्ष्म परिवर्तनों को हम प्राय: पहचान नहीं पाते, उदा. रक्तदबाव और मस्तिष्क में होनेवाले सूक्ष्म परिवर्तन। बायो फीड बॅक के अतिसंवेदनाशील मंत्रोंके माध्यम से ये सूक्ष्मतर परिवर्तन भी नापे जासकते है, देखे और समझे जा सकते हैं। इस प्रकार व्यक्ति को ज्ञान हो जाता है कि वह हृदय और मस्तिष्क की सामान्य स्थिति से कितनी दूर या कितने पास है। इन सूक्ष्म परिवर्तनोंका ज्ञान हो जाने पर जाने अनजाने में ही व्यक्ति ऐसे प्रतिसाद (responses) देता है जिससे उक्त क्रियाओं में परिवर्तन होता चला जाता है। वांछनीय परिवर्तन का संकेत संकेत-दर्शक द्वारा प्राप्त हो जाने पर उसे इस बात का ज्ञान हो जाता है कि उसके प्रतिसाद (responses) सटीक बैठ गए हैं। इस प्रकार वह

बायोफीड्बॅक प्रक्रिया
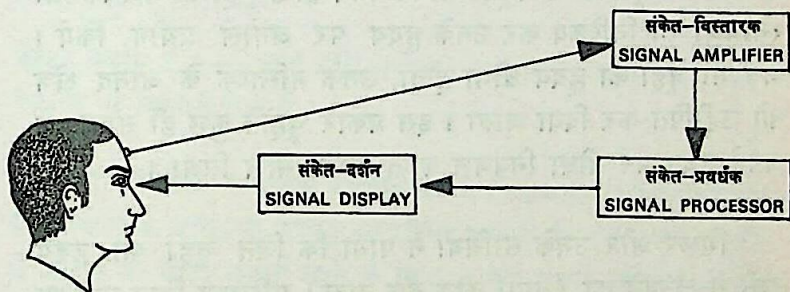
उचित-समुचित प्रतिसाद देना सीख जाता है। उदाहरणार्थ : तनाव-जन्य सिरदर्द में हमारे माथे की पेशियाँ कुछ अधिक तन जाती है। बायो फीड बॅक यंत्र के संकेत–दर्शक द्वारा व्यक्ति को इस वात का सीधा संकेत मिल जाता है, और वह धीरे धीरे बायो फीड बॅक तकनीक द्वारा अपने माथे की पेशियाँ शिथिल करना सीख जाता है।

संगणक (Computer) की सहायता से यह प्रक्रिया और भी जल्द और प्रभावी हो जाती है। इस प्रकार मनुष्य अपनी अनैच्छिक क्रियाओं पर नियंत्रण करना सीख जाता है। यह एक रोचक तथ्य है कि योगियों द्वारा दीर्घ साधना से प्राप्त 'नियंत्रणक्षमता' बहुत

कम समय में बायोफीड बँक द्वारा प्राप्त की जा सकती है। इस नयी तकनीक द्वारा मनुष्य अपनी हृदय गति, रक्त दबाब, भीतरी अंगों क्षौर ग्रंथियों पर नियंत्रण पा सकता है। शरीर की इन क्रियाओं ओर अंगों का संचालन मस्तिष्क के हायपोथलॅमस और 'लिम्बिक सिस्टम' इन क्षेत्रों से सुषुम्ना नाडी की लम्बाई के साथ चलनेवाली दो सूक्ष्म नाड़ियो के माध्यम से होता है। साधारण अभ्यास क्रिया द्वारा इन अंगों पर नियंत्रण नहीं पाया जा सकता। बायोफीडबॅक की प्रक्रिया द्वारा हम ऐसा कर सकते हैं।

बायो फीडबॅक की प्रगति का इतिहास भी बडा रोचक है। योगियों द्वारा वर्षों से 'अनुभव सिद्ध' ऐसी बायो फीड बॅक की संकल्पना सर्व प्रथम वैज्ञानिक जगत को देनेवाले डॉ. नील मिलर के शिष्य जॉय ट्रोविल ने क्यूरेर नामक विष द्वारा चूहों की अस्थिसंबंधी स्नायुओं को निष्क्रिय कर उनके हृदय पर अनोखे प्रयोग किये। जब भी चूहों का हृदय धीमा होता, उनके मस्तिष्क के आनंद क्षेत्र को उद्दीपित कर दिया जाता। इस प्रकार चूहोंने कुछ ही समय में अपने हृदय पर सीधा नियंत्रण प्राप्त करना सीख लिया।

मिलर और उनके साथियों ने पाया कि जिन चूहों को हृदय तेजी से चलाने का (बायो फ्रीड बॅक द्वारा) प्रशिक्षण दिया गया था वे उन चूहों की तुलना में ज्यादा बेचैन नज़र आए जिन्हें हृदय धीमा करने का का प्रशिक्षण मिला। स्पष्ट है, हृदयगति में परिवर्तन के परिणाम स्वरूप मस्तिष्क के रसायनों में परिवर्तन हुए और इस परिवर्तन के फलस्वरुप चूहों के व्यवहार में भी।

करमोना नामक वैज्ञानिक ने यह पाया कि जिन चूहों को धीमी गति के मस्तिष्क-प्रवाह (brain wave) का प्रशिक्षण (बायो फीड बॅक द्वारा) दिया गया था वे मूर्ति की तरह शांत–स्थिर बैठे रहने लगे। दूसरी ओर जिन चूहों को मस्तिष्कप्रवाह तीव्र करने का प्रशिक्षण मिला था वे अत्यंत अस्थिर और बेचैन दिखाई पडे।

अब वैज्ञानिकों ने मनुष्यके मस्तिष्क प्रवाह का भी अध्ययन किया । उनका निरीक्षण था कि चेतना के विभिन्न स्तरों पर अल्फा, बीटा, थीटा और डेल्टा नामक मस्तिष्क-प्रवाह पाये जाते हैं ।

अल्फा प्रवाह (८–१३ चक्र प्रति सेकंड) : व्यक्ति चौकस, शांत और प्रसन्नचित्त दिखाई देता है । यह निद्रा और बौद्धिक गतिविधि के बीच की स्थिति मानी गई है ।

बीटा प्रवाह (१४–३० चक्र प्रति सेकंड) : इस स्थिति में चिंता, क्रोध, डर, निराशा, उत्तेजित मनःस्थिति आदि मानसिक अवस्थाएं पायी जाती हैं ।

थीटा प्रवाह (४–७ चक्र प्रति सेकंड) : निद्रा और जागृतावस्था के बीचवाली स्थिति ।

डेल्टा प्रवाह (१–३ चक्र प्रति सेकंड) : प्रायः गहरी नीद की स्थिति में दिखाई देता है ।

कोलारेडो के वैज्ञानिक वडजिन्स्की ने निद्रानाश (Insomnia) के रोगियों के मस्तिष्क प्रवाह को धीमा करनेके लिए (दूसरे शब्दों में अल्फा या थीटा प्रवाह लाने के लिए) सर्व प्रथम बायोफीडबॅक उपकरणों द्वारा उनके माथे के स्नायुओं को थिथिल किया । उसके बाद उनका मस्तिष्क प्रवाह्न तेजी से धीमा हो गया और कुछ रोगी तो तुरंत सो गए ।

डॉ. स्टेरमैन ने बिल्लियों के मस्तिष्क का प्रवाह दो प्रकार से रेकार्ड किया– एक दूध पीते हुए और दूसरे दूध पीने के तुरंत बाद। अब जब भी उन्होंने ठीक उसी प्रकार का मस्तिष्क प्रवाह बायोफीड बॅक द्वारा उत्पन्न किया तो बिल्लियों ने दूध पीना छोडकर आंखे बंद कर लीं और वे शांतिपूर्वक लेटी रहीं । इन प्रयोगों से यह संभावना उभरी है कि मनुष्य भी जब चाहे बायोफीट बॅंक द्वारा अल्फा और थीटा प्रवाह–विशेष अभ्यास के द्वारा– बहा सकता है और असीम

सुख का आनंद ले सकता है। व्यक्तित्व विकास की प्रक्रिया में भी यह तकनीक महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है। तनावपूर्ण मनः-स्थितिवाला मनुष्य स्थिर-शाँत और संयत रहना सीख सकता है। सच ही माना जा सकता है कि जब योगियों को मन की स्थिरता और चित्त का आनंद प्रगत यौगिक प्रक्रियाओं द्वारा ही मिल जाता है तो वे क्यों कर सांसारिक-सुख की अभीप्सा करेंगे?

१९५८ में कैवल्यधाम प्रयोगशाला में मस्तिष्क प्रवाह मापन यंत्र ई. ई. जी. (Electro encephalograph) पर हुए महत्वपूर्ण प्रयोगों में लयसमाधिस्थ योगी पर श्रवण और स्पर्श संवेदनाओं का कोई प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं हुआ। इन प्रयोगों से इस विचार को बल मिला कि 'मन' यह शरीर और मस्तिष्क से परे स्वयंपूर्ण इकाई है, जो हमारी संवेदनाओं पर सीधा नियंत्रण रख सकती है। तभी तो संत कबीरदास जैसे भक्तिमार्गी 'मनुआ मेरा मरी गयो' गा गाकर विश्व को सुख का मार्ग दर्शाते हैं, मनोविजय का संदेश देते हैं।

चेतना की यह खोज कहाँ तक सफल रही यह कहना कठिन है। खोज अभी जारी है। क्या 'आंतरिक क्रियाओं' पर नियंत्रण इच्छा-शक्ति द्वारा होता हैं ? शायद नहीं। कामिया नामक वैज्ञानिक ने केलिफोर्निया में १० व्यक्तियों से इच्छाशक्ति का उपयोग कर अल्फा प्रवाह शुरू करने को कहा तो लाख प्रयत्न करने पर भी वे वे सभी असफल रहे। क्या सूक्ष्म इच्छाशक्ति से ये प्रवाह उत्पन्न होते हैं ? वैज्ञानिकों के पास इसका निश्चित उत्तर नहीं, क्योंकि इच्छा और सूक्ष्म इच्छा का उनका अभ्यास अभी प्रगतावस्था को प्राप्त नहीं कर सका हैं।

प्रसिद्ध वैज्ञानिक बारबरा ब्राऊन के अनुसार बायो फीडबॅक मन के द्वारा मन पर नियंत्रण की प्रक्रिया है। लेकिन मन का निश्चित स्वरूप क्या है, यह वैज्ञानिक अभी नहीं जानते। 'मन' के विषय में वैज्ञानिकों के अनुसंधान अभी किसी सर्वमान्य निष्कर्ष तक पहुचने के लिए अपर्याप्त जान पडते हैं। जैसा कि पहले उल्लेख किया गया

कि भारतीय दर्शन के अनुसार चेतना तीनों प्रकार 'स्थूल' 'सूक्ष्म' और 'अव्यक्त' स्थितियों से भी परे है। तो क्या यह भारतीय दर्शन में वर्णित चेतना ही है जो बायो फीड बॅक के मूल में है। खोज अभी जारी है।

संदर्भ ग्रन्थ :–

1. Pines, Maya, The Brain Changers, New York : The New American, LIbrary, InC., 1975
2. Gaarder, K. R. & Montgomery, P. S., Clinical Bio-feed Back, Baltimore : The Wiiliams & Wilkins Company, 1977.
3. श्री अरविंद, भारती (मासिक), वम्बई : भारतीय विद्याभवन, चौपाटी-रोड, वम्बई–७, १९६१
4. Brown Barbara, New Mind New Body, New york : Bantam books InC. 666 Fifth Advene, New york, 10019
5. स्वामी दिगम्बरजी, किमर्थं क्रियते क्रिया, ऋतम्भरा, कैवल्यधाम वर्ष १, अंक १, जनवरीं १९८८

बोध कथा–

ज्ञान–परीक्षा

श्रीमती साधना दौनेरिया
एम. ए. डी. वाई. एड.

एक बार राजा भोज और पण्डित प्रवर माघ घूमते–घूमते उज्जयिनी से बहुत दूर जा निकले। लौटते समय उन्हें मार्ग का स्मरण न रहा। भटकते–भटकते वे एक झौंपडी के पास पहुँचे। झौंपडी की स्वामिनी एक वृद्धा से जाकर उन्होंने पूछा– " माँ यह रास्ता कहाँ जाता है ?"

वृद्धा ने दोनों को गौर से देखते हुए कहा– "यह रास्ता तो कहीं नहीं जाता। हाँ इस पर लोग अवश्य आया जाया करते हैं। आप लोग कौन हैं ?

पण्डित माघ बोले–"हम यात्री हैं।"

"यात्री?" वृद्धा बोली–"यात्री तो केवल दो हैं–"सूर्य और चन्द्रमा"। सच–सच बताइये आप कौन हैं ?"

"हम क्षण भंगुर मनुष्य हैं"– पण्डित माघ ने कहा।

"क्षण भंगुर मनुष्य ?"–संसार में क्षण भंगुर तो केवल दो ही हैं–"यौवन और धन"।

माघ का चेहरा परेशानी से लाल हो गया। फिर भोज बोले– "हम राजा हैं "

"राजा भी दो ही हैं। इन्द्र और यम। आप राजा कैसे ?" वृद्धा ने कहा।

माघ ने देखा कि वृद्धा साधरण ज्ञान वाली नहीं हैं, वे संभल कर फिर बोले–"हम क्षमावान् हैं"

"भैया मेरे। क्षमावान् भी तो केवल दो ही हैं 'नारी' और 'पृथ्वी' आप लोग तो इन दोनों में से कोई भी नहीं हैं," वृद्धा बोली। माघ तो घबडा गये। फिर भी संयत स्वर में बोले–"हम परदेशी हैं।" "असभ्भव" परदेशी तो सिर्फ दो हैं –"एक जीवन और दूसरा पत्ते।" राजा भोज और पण्डित माघ ने पूर्ण पराजय से अपना सिर झुका लिया तथा अपनी अज्ञानता स्वीकार करते हुये बोले– " माँ! हम हार गये।"

लेकिन वृद्धा इसे भी अस्वीकार करते बोली– "बेटा, हारे हुये भी दो ही है– "एक कर्जदार और दूसरा लडकी का पिता। अब सच–सच बताइये आप कौन है ?

राजा भोज और पण्डितप्रवर माघ चुपचाप लज्जित भाव से अपना सिर झुकाए खडे रहे।

वृद्धा मुस्कराते हुये बोली– "तो आप पण्डितप्रवर माघ और राजा भोज हैं। भइया, यह रास्ता सीधे उज्जयिनी को ही जाता है। मैं तो आप लोगों की ज्ञानपरीक्षा ले रही थी।"

योग तथा नवीन शिक्षानीति

श्री ओमप्रकाश तिवारी
प्रबन्ध सम्पादक
'ऋतम्भरा' कैवल्यधाम

'नवीन शिक्षानीति' आजकल विशद चर्चा का विषय बनी हुई है। यह चर्चा एक सतत बहती आयी हुयी वह धारा है जो १९४७ से अनादि व अनन्त के गर्भ में समाई है। उसी का परिणाम है कि हम अध्यात्म की गहराई की तरह उसकी थाह पाने के लिए व्यग्र तो हैं पर अनेकश: प्रयत्न करते हुए भी उसका स्वरूप कुछ इस प्रकार अव्यक्त हो उठा है कि उसके सम्बन्ध में न कुछ कर सकते है और न स्पष्ट कह पाते हैं। आशंका उठती है कि हमारी दशा कहीं ऐसी तो नहीं होगयी है कि निधार्मिकनीति (सेक्यूलर) के भय के कारण हम या तो सही नीति के क्रियान्वयन में विलम्ब कर रहे हैं अथवा यह सोच रहे हैं कि 'चलो हो ही जाएगा', ठीक उसी तरह जिस प्रकार से हिन्दी को राष्ट्रभाषा घोषित करने पर भी उसका तदनुरूप क्रियान्वयन नहीं हो पा रहा है। स्वतन्त्रता के चालीस वर्ष बाद भी हमारी अपनी कोई भाषा राष्ट्रभाषा का रूप ग्रहण नहीं कर पायी– यह बिडम्बना नहीं तो और क्या है? हिन्दी न सही, तामिल, तैलगु, बंगला, कन्नड– कोई भी भाषा राष्ट्रभाषा हो जाती तो प्रत्येक नार्गारिक में राष्ट्र के प्रति अपनेंपन का भाव जागृत हो जाता। किन्तु वह नहीं हुआ। यही बात योगशिक्षा के लिंए भी कहीं न हो? ऐसी आशंका का उठना स्वाभाविक है।

शिक्षा में योग की आवश्यकता–

"शिक्षा व्यक्ति के विकास का साधन है"–ऐसा शिक्षाविदों एवं मनीषियों का मत है। यदि विकास में सहायक तत्त्वों का इसमें अभाव हो तो विकास क्या होगा ? आधुनिक शिक्षा प्रणाली लॉर्ड मैकाले की नीति पर आधारित है। उसने कहा था–If you want to distory a country you must distory its tradition". अतः सारे प्रयत्न उसी उद्देश्य से प्रेरित होकर आगे लाये गए हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् हमने कभी यह नही सोचा कि शिक्षा का स्वरुप क्या हो ? शिक्षा पद्धति की सब से प्रथम कसौटी है हमें जो –"करने व न करने का ज्ञान करा सके। 'क्या करना चाहिए, क्या नहीं 'करना चाहिए'–इसका स्पष्ट ज्ञान हो सके तथा जो मन की चंचलता पर संयम करते हुए बुद्धितत्त्व को दृढ़ करके आगे बढाये वही शिक्षा–वास्तविक शिक्षा है।"कहा भी है–'सा विद्या या विमुक्तये।

यहां विमुक्ति का अर्थ अध्यात्म व व्यवहार दोनों ही क्षेत्रों में किया गया है। व्यवहार के क्षेत्र में अर्थ है–अज्ञान से मुक्ति, रूढ़िवादिता से मुक्ति, संकीर्णता से मुक्ति तथा अध्यात्म के क्षेत्र में अर्थ हैं–"पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति"।" प्रश्न आता है आज की शिक्षा ऐसा कर सकेगी क्या ? नहीं ! कारण–जब हम कहते हैं–'किमर्थम्'–तो उसका उत्तर मिलता है "अर्थोपार्जनार्थाय"। यह केवल वही है जो कि एक पशु की सीमा है जहाँ केवल 'आहार, निद्रा, भय एवं मैथुन ही प्रधान हैं। बुद्धि का उपयोग यह बताता है कि अहित क्या है हित क्या है ? बुरा क्या है अच्छा क्या हैं ? धर्म क्या है, अधर्म क्या है ? कर्तव्य क्या है अधिकार क्या है ? प्रजातन्त्र की प्रथम आवश्यकता उपर्युक्त बातों का होना है। अब तक आयी शिक्षा पद्धति ने केवल 'क्लर्क, बाबू या अफसर ही पैदा किए हैं। उनमें राष्ट्रीयता, बन्धुत्व, सेवा का नितान्त अभाव रहता है–यदि कहीं लोगों में उक्त सद्गुण जैसा कुछ पाया भी जाता है वह व्यक्ति की अपनी देन है। उसके माता पिता को श्रेय है–न कि शिक्षा को।

हमारी सरकार का ध्यान कई बार इस कमी की ओर गया है पर इस बार लगता है कि नईशिक्षा-प्रणाली में इसको महत्त्वपूर्ण दृष्टि मिली है। पर मुख्य प्रश्न यह है इसे क्रियान्वित कैसे किया जावे ?

विद्यार्थो को उचित व अनुचित का ज्ञान दो हो प्रकार से हो सकता है– १ पढने से तथा २ देखनेसे से। पढ़ने का अर्थ- ऐसे साहित्य की उपलब्धि जिसके पढ़ने से यह ज्ञात हो सके कि उचित क्या है और अनुचित क्या है ? देखने का अर्थ है- क्रियात्मक किंवा प्रयोगात्मक अनुभव को देखकर उचित ओर अनुचित की सीमा में विभक्त करना। इस दृष्टि से योग शिक्षा का शामिल होना स्वागत योग्य है। पर यह केवल आसन प्राणायाम तक ही सीमित न रह जावे। इसमें व्यवहार का वह भान भी हो जिसमें यम नियम की उपादेयता बतायी जावे। मुख्य कठिनाई है आदर्श शिक्षकों का अभाव, पर यदि प्रयत्न किया जाए तो इनका निर्माण किया जा सकता है। अनुशासन, लगन ज्ञान की स्पष्टता–ये कुछ ऐसी अनिवार्यताएँ हैं जिनकी अवहेललना नहीं की जा सकती। अहिंसा का अर्थ तथा महत्त्व, सत्य बोलनेकी आवश्यकता तथा उपादेयता, चोरी न करने का आदर्श, सुचरित्र का अभ्यास, केवल आवश्यक वस्तुओं का ही संग्रह– योग-शिक्षा के मूलभूत तत्त्व हैं। उसी प्रकार से अन्दर या बाहर की सफाई, मन में सन्तोष रखना, मेहनतसे पढना, अध्यात्म की ओर बढना– इन बातों पर बच्चों में प्रकाश डालना तथा संस्कार उत्पन्न करना मुख्य कार्य है। मुझे आशा है कि नवीन शिक्षा पद्धति में उपर्युक्त बातों पर ध्यान दिया गया तो अपेक्षित अनुशासन लाने में काफी मदद मिलेगी। सर्वाङ्गीण व्यक्तित्त्व का विकास होकर समग्र मानव चेतना दिव्यता की ओर बढ़ सकेगी। भारत सरकार की योजना में हम सभी सहभागी हों तथा राष्ट्र को उस दिशा में ले जावे जहाँ शिक्षा का उद्देश्य प्रखर होकर क्रियान्वित हो जाता है। योग कोई पंथ या धर्म नहीं हैं। यह भारतीय संस्कृति का प्राण है, कलेवर है। अतः सरकार यह ध्यान में रखे कि योग

शिक्षा के मूल तत्त्व उस योग को अत्यन्त अभिन्न अंग बनावे जो व्यक्ति के चतुर्दिक् विकास में सहायक होकर मनुष्य को एक अच्छे नागरिक, देशभक्त, विश्वभक्त बनादे जिसका शान्ति व प्रेम में विश्वास बढे । यही शिक्षा–'योगशिक्षा' का सच्चा स्वरूप होगी ।

● ●
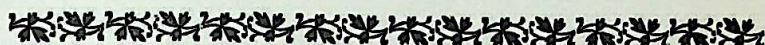
भक्ति : परेशानुभवो विरक्ति
रन्यत्र चैष त्रिक एककालः ।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतःस्यु
स्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोनुघासम् ।।

श्रीमद्भागवत ११।२।४२

(जिस प्रकार भोजन करने से तुष्टि, पुष्टि और भूख की निवृत्ति एक साथ होती है, उसी प्रकार भगवान् का भजन करने पर भगवान् के प्रति प्रेम, उस स्वरुप का अनुभव और अन्य वस्तुओं से वैराग्य–तीनों एक साथ ही हो जाते हैं और पराशान्ति की प्राप्ति होती है ।)

समाचार पत्र अधिनियमों के अन्तर्गत ऋतम्भरा पत्रिका के पञ्जीकरण एवं प्रकाशन से सम्वन्धित वक्तव्य ।

पत्र—४

१. प्रकाशन का स्थान : कैवल्यधाम–लोणावळा, पुणे ४१० ४०३

२. प्रकाशन अवधि : त्रैमासिक (हिन्दी)

३. मुद्रक का नाम : ओमप्रकाश तिवारी,
राष्ट्रीयता, पता : भारतीय-कैवल्यधाम, लोणावला

४. सम्पादक का नाम : ओमप्रकाश तिवारी.
राष्ट्रीयता पता भारतीय-कैवल्यधाम, लोणावला

६. संस्था या व्यक्तियों के नाम जो पत्रिका के अधिकारी हैं । : कैवल्यधाम श्रीमन्माधव योग मन्दिर समिति–लोणावला, पुणे ४१० ४०३

मैं ओमप्रकाश तिवारी घोषित करता हूँ कि उपर्युक्त सभी बिवरण मेरी जानकारी के अनुसार पूर्णतया सत्य हैं ।

दिनांक १–४–१९८८

श्री. ओमप्रकाश तिवारी
प्रकाशक के हस्ताक्षर
पद – प्रबन्ध संपादक
ऋतम्भरा

रजि. नं. पी. अेच्. अेम्./१५२/८

यह पत्रिका मुद्रक, प्रकाशक एवं अधिकारी श्री, ओमप्रकाश तिवारीजीने योगमीमांसा प्रेस, कैवल्यधाम लोणावळा में मुद्रित करके प्रकाशित की ।

" ऋतम्भरा स्यादमृतत्ववर्षिणी "

ऋतम्भरा

जुलै १९८८

वर्ष १ अंक ३

कैवल्यधाम, लोणावला ४१० ४०३, पुणे
महाराष्ट्र (भारत)

वेदामृतम्

यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति
यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम् ।
द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते
राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः ।।
(अथर्व. ४ । १६ । २)

(कोई कितना ही छिपकर काम करे, गुप्तरूप से षड्यन्त्र द्वारा दूसरों को धोखा देना चाहे, अनुचित रूप से दवाव डालें, आतङ्कित करे या दो पुरुष एकान्त में बैठकर कुटिल यन्त्रणा में लीन हों, तब भी वे प्रभु की दृष्टि से बच नहीं सकते)

"सत्यं परं धीमहि"

ऋतम्भरा

(योग की त्रैमासिक पत्रिका)
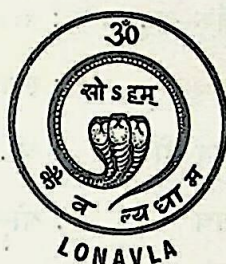
जुलै १९८८

वर्ष १ 卐 अंक ३

कैवल्यधाम लोणावला
पुणे (महाराष्ट्र)
४१० ४०३

आजीवन ग्राहक शुल्क—रु० ५००/—
वार्षिक ग्राहक शुल्क—रु० २०/—
एक प्रति—रु० ५/—

: विषयानुक्रम :

अध्यक्ष : स्वामी दिगंबरजी

प्रबन्ध सम्पादक : श्री ओम् प्रकाश तिवारी

सम्पादक : श्री रामरत्न शास्त्री

★

सदस्य :

डा० एम. व्ही. भोले ★ डा० बाबूराम शर्मा ★ श्री. राकेश दौनेरिया

श्रीमती कमलेश अग्रवाल ★ श्री. महेश दवे.

'ऋतम्भरा' में प्रकाशित लेख सामग्री के लिए लेखक स्वयं उत्तरदायी हैं।

ॐ

सम्पादकीय

● 'ऋतम्भरा' का तीसरा अंक आपके हाथ में विलम्ब से पहुंच रहा है– इसका हमें भारी खेद है। इस सम्बन्ध में प्रिय पाठकों के उपालम्भ भरे हुए किन्तु स्नेहसिक्त एक दो पत्र भी मिले हैं। यथा समय पत्रिका न मिलने के कारण जो कष्ट उठाना पड़ा है, उसके लिए हम विनम्र क्षमा चाहते हैं और आश्वस्त करना चाहते हैं कि हमारा प्रयत्न होगा कि भविष्य में 'ऋतम्भरा' समय पर प्रकाशित हो और सहृदय पाठकों के समक्ष निर्बाध उपस्थित होती रहे।

● प्रसन्नता एवं उत्साह की बात यह है कि हमारे इस प्रयास का स्वागत भारत के सभी क्षेत्रों में हुआ है और 'ऋतम्भरा' अपने शैशवकाल में ही सुधी पाठकों के हृदय का हार बनती जा रही है। निरन्तर ग्राहक संख्या बढ़ रही है।

● मनीषियों, विद्वानों एवं योगसाधकों के बहुत सारे ऐसे पत्र भी आए हैं जिनमें न केवल 'ऋतम्भरा' की प्रशंसा ही की गयी है अपितु उपयोगी तथा सार्थक सुझाव भी दिए गए हैं। हम उनके इन सुझावों का हार्दिक स्वागत करते हैं और 'पत्रिका' के प्रति प्रकट किए गए प्रेम एवं विश्वास के लिए 'आभार' मानते हैं।

● 'ऋतम्भरा' अविकल अन्वर्थ सिद्ध हो– ऐसा हमारा प्रयास है। आज अनेक विसंगतियों के रहते हुए भी देश विदेश सभी स्थानों पर योग की प्रामाणिक जानकारी के लिए लोग उत्सुक हैं। मेरी, डॉ. भोले एवं डॉ. घरोटे की अभी हाल की फ्रान्स, स्पेन, चेकोस्लावाकिया, इटली, रूस आदि देशों की यात्राओं ने यह सिद्ध भी कर दिया है कि कैवल्यधाम द्वारा निर्दिष्ट 'योग–प्रकल्पों' की ओर वहाँ के लोग कितने आकृष्ट हैं। इसीका सुपरिणाम है कि उन उन देशों में 'कैवल्यधाम' की शाखाओं की स्थापना का मार्ग प्रशस्त हुआ है और योग के प्रामाणिक स्वरूप का परिचय वहाँ के निवासियों को हो रहा है।

● कैवल्यधाम अपने प्रारम्भिक काल से ही योग के वैज्ञानिक, दार्शनिक एवं सांस्कृतिक रूप को अपने शोधकार्य, प्रकल्पों तथा विविध प्रशिक्षण कार्यक्रमों द्वारा विभावित करता आया है । पू. स्वामी कुवलयानन्दजी ने जिस योग–मार्ग को निर्दिष्ट किया है, वह शास्त्रशुद्ध तो है ही, वैज्ञानिकरीत्या निर्दुष्ट भी है । अतः हम उक्त मार्ग पर चलने के लिए कृतसंकल्प हैं ।

● 'ऋतम्भरा' योग के प्रामाणिक रूप को प्रशस्त करने तथा उसके संदेश को जन जन तक पहुँचाने में सहायिका वने–' यही हमारी अभीप्सा है ।

आपका सहयोग एवं प्रेम ही हमारा संवल है । आशा हैं इस सम्वन्ध में आपकी उदारता हमारे उत्साह की वृद्धि में सहकारिणी बनी रहेगी ।

ओम् प्रकाश तिवारी

पार्थिवेष्विह देहेषु, प्रविष्टस्तद्गुणाश्रयः ।
गुणैर्न युज्यते योगी, गन्धैर्वायुरिवात्मदृक् ॥

श्रीमद्भागवत ११ । ७ । ४१

(गन्ध वायु का गुण नहीं, पृथ्वी का गुण हैं । परन्तु वायु को गन्ध का वहन करना पड़ता है । ऐसा करने पर भी वायु शुद्ध ही रहता है, गन्ध से उसका सम्पर्क नहीं होता । उसी प्रकार साधक योगी का जव तक इस पार्थिव शरीर से संवन्ध है, तव तक उसे इसकी व्याधि, पीड़ा और भूख प्यास आदि का भी वहन करना पड़ता है । परन्तु अपने को शरीर नहीं, आत्मा के रूप में देखनेवाला साधक शरीर और उसके गुणों का आश्रय होनेपर भी उनसे सर्वथा अलिप्त रहता है ।)

ऋतम्

"सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा,
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयोहि शुभ्रो–
यं पश्यति यतयः क्षीणदोषाः ॥"

'मुण्डकोपनिषद् ३।१।५

"यह आत्मा सत्य, तप, सम्यग्ज्ञान और ब्रह्मचर्य से प्राप्त होता है। यह आत्मा ज्योतिर्मान एवं शुभ्र है। इसके स्वरूप का साक्षात्कार मात्र उन्हीं यतियों को अपने अन्तःशरीर में होता है जिनके मानसिक एवं शारीरिक दोष क्षीण हो गए हैं"

उक्त श्रुति में अध्यात्म में प्रवेश का मार्ग बडी सुविचारित पद्धति से प्रशस्त किया गया है। यद्यपि अध्यात्म की ओर उन्मुख होना सरल कार्य नहीं है, फिर भी इसे असम्भव नहीं मान लेना चाहिए। मानव जीवन की चरितार्थता इसी ओर प्रवृत्त होने में है, मात्र सत्य संकल्प चाहिए।

सत्य को अपनाना कठिन है। सत्य को समझना उतना कठिन नहीं, जितना उसे अपना कर जीवन में ढालना कठिन है। जब मनुष्य सत्यवादी, सत्यकर्मा और सत्यचिन्तक होजाएगा, तब उसमें तपस्या का प्रवेश होजाएगा। तप का अर्थ है, किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिए इतनी तीव्र इच्छा उत्पन्न होना कि साधक उसके लिए प्रत्येक कष्ट, संकट और आपत्ति को सहन करने के लिए तत्पर हो जाए। आत्मा के अन्वेषण में इन दुःखों को सहन करना महँगा सौदा नहीं है। सत्याहार, सत्यविचार, सत्यव्यवहार और सत्य आधार तक

पहुँचने के लिए सभी प्रकार के कष्ट सहन करने की तत्परता होनी ही चाहिए। शरीर से पृथक् आत्मज्जोति के दर्शन इसी साधना से हो सकेगे। उस समय मनुष्य अपनी आत्मशक्ति का अनुभव करने लगेगा और फिर एक ऐसी अवस्था आ जाएगी कि संसार का कोई कष्ट उसे अपने मार्ग से विचलित नहीं कर सकेगा। सत्यमार्ग पर चलनेवाले व्यक्ति की आत्मा बलवती हो जाएगी और वह उस आवरण से, जो प्राण, इन्द्रियों और मन का उस पर पड़ा है, मुक्त होकर चमकने लगेगी।

– रामरत्न शास्त्री

सत्यपि भेदापगमे नाथ! तवाऽहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः॥

(गर्गसंहिता, अ. में. खण्ड ३९/४)

"नाथ मुझमें और आप में भेद न होने पर
भी मैं ही आपका हूँ, आप मेरे नहीं हैं,
क्योंकि तरंग ही समुद्र की होती
है, तरंग का समुद्र नहीं
होता"।

आधुनिक शिक्षा में-
आसन एवं प्राणायाम की भूमिका

(योग-शिक्षा व अनुसन्धान विषय पर आधारित द्वितीय-अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में पठित)

डॉ. पीताम्बर झा
सहायक-निदेशक, दार्शनिक साहित्य-
अनुसन्धान विभाग, कैवल्यधाम, लोनावला

शिक्षा[1] या EDUCATION[2] शब्द के व्युत्पत्तिपरक अर्थ के आधार पर शिक्षा का अर्थ होता है-व्यक्ति के अन्तर्निहित क्षमताओं एवं सम्भावनाओं का संवर्धन, प्रशिक्षण एवं मार्गदर्शन कर "व्यक्तित्व का सम्पूर्णतः विकास करना"।

इस सन्दर्भ में कुछ शिक्षाविदों के विचार[3] इस प्रकार हैं। **प्लेटो के अनुसार –** "शिक्षा उसे कहते हैं जो अच्छी आदतों के द्वारा बच्चों में नैतिकता का विकास करती है"।

---

1 शिक्ष् = शिक्षणे धातु से भाव मे 'अ' प्रत्यय से निष्पन्न शिक्षा शब्द का अर्थ है-शिक्षण, प्रशिक्षण, संवर्धन या पथप्रदर्शन कीं योग्यता प्राप्त करना।

2 Education शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के तीन शब्दों – Educatum, Educare और Educere से है। Educatum का अर्थ है- Act of teaching or learning. Educare का अर्थ है– To educate, to bring up, to raise तथा Educere का अर्थ है To bring forth, to lead out.

3 शिक्षा के सामान्य सिद्धान्त, पृष्ठ–3

अरस्तू के अनुसार – "शिक्षा स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क का निर्माण करती है"। **काण्ट के अनुसार** – "शिक्षा व्यक्ति के उस पूर्णता का क विकास है जिस पर वह पहुँच सकता है"।

स्वामी विवेकानन्द कहते हैं– "हमें उस शिक्षा की आवश्यकता है जिसके द्वारा चरित्र-निर्माण होता है, मस्तिष्क की शक्ति बढ़ती है, बुद्धिका विकास होता है और मनुष्य अपने पैरों पर खड़ा हो सकता है"।

शिक्षा शब्द के उपर्युक्त अर्थं एवं शिक्षाविदों के विचारों से अनुप्राणित प्राचीन शिक्षा की तरह ही आधुनिक शिक्षा में भी व्यक्ति के उसी अन्तर्निहित असीम क्षमताओं के विकास की आवश्यकता को ध्यान में रखा जाना चाहिये था, जिससे नयी शिक्षित पीढी अपने पैरों पर खडे होने की क्षमता प्राप्त कर सके। किन्तु यह अत्यन्त खेद का विषय है कि परतन्त्रता के समय अँग्रेजों ने अपनी स्वार्थपूर्ति के लिये जिस शिक्षापद्धति का निर्माण किया था, स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भी हमारी सरकार ने उसी को यथावत् अपना लिया। और थोडे-बहुत परिवर्तन के साथ आजकल वही शिक्षापद्धति चल रही है।

भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों को निरस्त करने की कुटिलता भरी सोच के साथ लॉर्ड मैकाले द्वारा योजनाबद्ध ढंग से प्रवर्तित इस शिक्षापद्धति में अँग्रेजी भाषा की अनिवार्यता तो थी ही, जिससे भारतीय छात्रों के आधे से अधिक प्रतिभा व परिश्रम का अपव्यय मात्र भाषा सीखने पर ही चला जाता था, साथ ही इस शिक्षा का प्रभाव दैनन्दिन जीवन, वेशभूषा, खानपान, आचार-विचार, व्यवहार पर भी इस बुरी प्रकार से छा गया कि आज के अधिकांश नयी पीढी के लोगों को पता ही नहीं है कि वास्तव में हमारे अपने भारतीय संस्कृति, वेशभूषा, खान-पान, आचार-विचार एवं परस्परा क्या हैं ? इसका परिणाम यह हुआ है कि आज का तथाकथित

शिक्षितवर्ग अपनी ही भारतीय मूल्यों, वेशभूषा, खान-पान, आचार-विचार एवं परम्परा आदि को हेय समझाने लगा है, शारीरिक श्रमों से दूर भागने लगा है तथा एक अस्वस्थ प्रतियोगिता की भावना से ग्रस्त हो अपने ही लोगों को दबाकर, कुचलकर आगे बढ़ने में विश्वास करने लगा है। वह स्वतन्त्र रूप से अपने पैरों पर खड़ा होने की सोच ही नहीं सकता, सतत् नौकरी की बैसाखी की तलाश में भटकता रहता है। यही कारण है कि आज हमारे यहाँ 'शिक्षित बेरोजगार' शब्दका प्रचलन बडी निर्भीकता से हो रहा है। यथार्थ तो यह है कि शिक्षित के साथ बेरोजगार या बेरोजगार के साथ शिक्षित शब्द लगना ही नहीं चाहिये। क्योंकि इससे 'वदतो व्याघत दोष' की सम्भावना होगी। किन्तु इस शब्द का प्रयोग हो रहा है, अतः यह स्पष्ट है कि आज की पद्धति एकाङ्गी है। आज संक्षिप्त मार्ग से या बुरे से बुरे तरीके से-चाहे वह बेईमानी, तस्करी, भ्रष्टा-चार से ही क्यों न हो–अधिक से अधिक धन अर्जित करना ही एक मात्र लक्ष्य होता जा रहा है। और इस धन का उपयोग दैनन्दिन जीवन में दिखावा, बनावटीपन, धूम्रपान, मद्यपान आदि में बेहिचक होने लगा है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि पूरी गम्भीरता से विचार किया जाय कि आज के शिक्षितों में भी व्याप्त इस अस्वस्थ मानसिकता को दूर करने के लिये वर्तमान शिक्षापद्धति की कमियों को किस प्रकार दूर किया जाय, जिससे कमसे कम शिक्षित व्यक्तियों में तो भारतीय संस्कृति एवं मूल्यों की पहचान, नैतिकता, आचार–विचार परिलक्षित हो और वे समाज के मार्गदर्शक बन एक उत्कृष्ट भारतीय समाज की स्थापन में सहायक बनें।

लेखक के विचार से प्रचलित शिक्षापद्धतियाँ जैसी है वैसी रहे, आवश्यकता मात्र इस बात की है कि इसमें से जो प्राणभूत भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों को उपेक्षित कर दिया गया है, वह पुनः समाविष्ट हों। और इसके लिये सर्वोत्तम उपाय है योग के आसन-प्राणायामों को आज के हर शिक्षापद्धति में सम्मिलित कर लेना।

भारतीय सांस्कृतिक मूल्य, धर्म, नैतिकता, परम्परा आदि तथा योग को यदि पर्यायवाची कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। भारतीय मनीषियों के सुदीर्घ व सात्विक चिन्तन से निःस्यूत 'योग' एक ऐसी विधा है, जिसके अन्तर्गत ये सभी समा जाते हैं। अतः मेरे विचार से योग को, विशेषकर योग के दो अतिम महत्वपूर्ण तत्वों–आसन एवं प्राणायाम–को आधुनिक शिक्षापद्धति में विधिवत् व अनिवार्यतः सम्मिलित कर लेने से तथा इनकी शिक्षा मातृभाषा या हिन्दी में दिये जाने से वर्तमान शिक्षापद्धति की कमियों को दूर की जा सकती है।

(मैक्सिकन) माया–सभ्यताकाल (ई. पू. ३५०० वर्ष) एवं सिन्धुघाटी सभ्यताकाल (ई. पू. ३००० वर्ष) के भित्तिचित्रों में उपलब्ध विभिन्न यौगिक आसन–प्राणायामों के आधार पर निश्चित-प्राय रूप से यह प्रमाणित हो चुका है कि योग के दो तत्त्वों-आसन-प्राणायाम-का प्रचलन आदि वैदिककाल (ई.पू,४ ००० वर्ष) से रहा है। बल्कि उस समय में आसन एवं प्राणायाम का ही सर्वाधिक प्रचलन था और योग से ये ही दोनों अभिप्रेत हुआ करते थे, यह कहना उचित प्रतीत होता है। इसका कारण यह है कि इन दोनों के अभ्यास से ही व्यक्ति में शारीरिक–मानसिक स्वास्थ्य एवं विकास के साथ–साथ नैतिकता, उत्कृष्ट आचार-विचार मानसिक शान्तता व एकाग्रता, इन्द्रियनिग्रह एवं तत्प्रयुक्त ध्यानादि की भी स्थिति प्राप्त होने की निश्चित सम्भावना रहती है। शायद यही कारण है कि वर्तमानकाल में सर्वाधिक प्रचलित योग का हठयौगिक स्वरूप भी यही मान्यता लेकर चल रहा है। उक्त भित्तिचित्रों के अध्ययन से यह भी पता लगता है कि आज प्रचलित विभिन्न हठयौगिक आसन-प्राणायाम एवं उस समय के आसन-प्राणायमों में अधिक अन्तर नहीं था।

यद्यपि ई. पू. पाँचवीं से तीसरी शताब्दी के बीच में उत्पन्न महर्षि पतञ्जलि ने आसन-प्राणायाम सहित योग के सभी तत्वों को विशुद्ध दार्शनिक-चिन्तन के आधार पर व्याख्यायित कर एक स्वतन्त्र योगदर्शन सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया, जिससे योग का एक सुस्पष्ट

लक्ष्य या उद्धेश्य दार्शनिक-चिन्तकों, विचारकों एवं योगियों के समक्ष निर्धारित हुआ। फिर भी योग के आसन-प्राणायाम का अपना जो प्रारम्भिक स्वरूप व उद्देश्य था, उस पर इस नये चिन्तन से कोई आघात नहीं हुआ, प्रत्युत्तर वे ही उद्देश्य और भी अधिक विस्तारित रूप से अभ्यासियों के समक्ष स्पष्ट होने लगे। अत: आज प्रचिलित विभिन्न यौगिक आसन एवं प्राणायामों में प्रारम्भिक एवं पतञ्जलि-इन दोनों चिन्तनों का समावेश है। इस कारण योग के इन प्रमुख तत्त्वों-आसन एवं प्राणायाम-की भूमिका आज की आधुनिक शिक्षा में अति-महत्वपूर्ण हो जाती है। आधुनिक शिक्षा में इन दोनों तत्त्वों को सम्मिलित करते समय यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि इनका पठन-पाठन व अभ्यास सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों स्तर पर हो। दोनों ही तत्त्वों का विस्तार से सैद्धान्तिक विवेचन कर छात्रों को इनके बहुविध आयामों विशेषत: वैज्ञानिक आयामों से परिचित कराया जाय और उसके साथ ही उनका व्यावहारिक अभ्यास भी कराया जाय। तभी आसन-प्राणायाम का अर्थात् योग का या दूसरे शव्दों में शिक्षा का वास्तविक लक्ष्य--व्यक्तित्व का पूर्णत:विकास प्राप्त हो पायगा।

सम्पूर्णत:विकसित व्यक्तित्व के लिये मोटे तौर पर दो महत्वपूर्ण घटक काम करते हैं। वे हैं—१ सम्पूर्ण शारीरिक स्वास्थ्य (विकास) तथा २. सम्पूर्ण मानसिक स्वास्थ्य (विकास)। यद्यपि ये दोनों भी एक दूसरे पर निर्भर करते हैं, फिर भी अलग-अलग इन का विवेचन तो किया ही जा सकता है।

सुयोग्य शिक्षक के द्वारा योग के विभिन्न आसनों की विधिवत् व वैज्ञानिक रीति से छात्रों को शिक्षा दी जाय, तो उससे १. शारीरिक स्थिरता २. रोगराहित्य ३. शरीर का हल्कापन ४. शरीर में थकावट का न होना ५. स्फूर्ति तथा ६. शरीर के सभी अंगों का उचित विकास सम्भव होने लगता है। इसका कारण यह है कि

आसनों के अभ्यासकाल में, शरीर में विशेषतः पृष्ठवंश या मेरुदण्ड मे विभिन्न दिशाओं से मोड़ या तान दिये जाते हैं। ये तान या मोड़ पीठ के बल लेटकर, पेट के बल लेटकर, बैठकर तथा खडे होकर- इन चार स्थितियों में पृष्ठवंश में आठ प्रकार से दिये जाते हैं। यह भी सर्वविदित है कि पृष्ठवंश या मेरुदण्ड से ही सम्पूर्ण शरीर में नाड़ियों का जल फैला हुआ है, जिसके द्वारा शरीर में रक्त-सञ्चार, पोषण द्रव्यों का प्रवहन, मलनिःस्सारण आदि प्रक्रिया चलती रहती है। अतः स्वाभाविक ही विभिन्न आसनों से मेरुदण्ड में आठ प्रकार से तान देने पर शरीरस्थ सम्पूर्ण नाडीजालों, मांसपेशियों अस्थियों आदि पर बहुत ही अच्छा प्रभाव पड़ता है, जिससे ये सब लचीले, अधिक कार्यक्षम व स्वस्थ बने रहते हैं और तत्प्रयुक्त उपर्युक्त छः लाभों से युक्त सम्पूर्ण शारीरिक विकास सम्भव हो पाता है।

इसी प्रकार विभिन्न प्राणायामों की शिक्षा दिये जाने से छात्रों में -१.मानसिक-शारीरिक सन्तुलन २ नैतिकता का विकास ३.शान्त चित्तता ४. सदा प्रसन्नता ५. निर्णय लेने की क्षमता तथा ६. दृढ़-निश्चयता सम्भव होने लगता है। इसका कारण यह है कि प्राणा-यामों के अभ्यासकाल में प्रथम श्वास-प्रश्वास को एक विशिष्ट (व धीमी) रीति से लेने–छोड़ने का अभ्यास कराया जाता है और अन्ततः अत्यन्त धीमी गति से गहरी श्वास-प्रश्वास लेने छोड़ने व बीच में रुकने का अभ्यास दृढ़ होता हैं। साथ ही इन अभ्यासों में प्राण (श्वास-प्रश्वास) व मन की एकता बनी रहती है। इस प्रकार के अभ्यास से दोनों नासिका–विवरों से सम्बन्धित मेरुदण्ड एवं उसके सम्पूर्ण नाडीजालों द्वारा शरीर में तथा विशेष रूप से मस्तिष्क में इनका सुप्रभाव पड़ता है, जिससे उपर्युक्त छः प्रकार के लाभों से युक्त सम्पूर्ण मानसिक विकास सम्भव हो पाता है।[1] मन या चित्त एक स्थान पर स्थिर[8] व अत्यन्त एकाग्र[3] हो जाता है तथा ज्ञान रूपी प्रकाश की उपलब्धि[4] होती है।

1. ह. प्र. II 2.42.
2. यो. सू. III 1
3. यो. सू. III 2
4. यो. सू. II 52

स्वामी कुवलयानन्द के अनुसार-प्राणायाम के द्वारा मनुष्य के अन्दर उत्पन्न होनेवाली युद्ध-सम्बन्धी उग्रउत्तेजनाओं को नियन्त्रित किया जा सकता है, जो अन्ततः मनुष्य को युद्ध, अनैतिकता आदि से तो दूर रखेगा ही, साथ ही चित्तप्रसादन कर सभी प्राणियों के प्रति प्रेम एवं सहानुभूति की भावना को बढ़ायेगा ।[5][6]

आधुनिक मानसशास्त्रियों का भी मत है कि-काम-क्रोध-लोभ-मोह-द्वेष-घृणा-शोक-अनुताप आदि मनोविकार ही मानसिक शान्ति को भंग करने में प्रबल हेतु हैं। ये विकार हमारे मन के उस स्तर में उत्पन्न होते हैं जहाँ चेतना अथवा ज्ञान अर्धजागृत रहता है। प्राणायाम के द्वारा हमारे मस्तिष्क के स्नायुजाल पर तथा मन के बोधपूर्वक व्यापारों पर अधिकार हो जाता है तथा उससे उपर्युक्त स्तर के द्वार भी खुल जाते हैं, जहाँ हमारा ज्ञान अर्धजागृत रहता है और उस स्तर पर हमारा अधिकार हो जाता है। यही कारण है कि प्राणायाम का अभ्यासी अपने मनोविकारों को जीतकर मानसिक समता स्थापित करने में समर्थ होता है ।[7]

यूरोप के चर्चित स्नायुचिकित्सक डॉ. वॉल्गेसी ने अपनी पुस्तक A message to the neurotic world में यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि मनोविकारों का शमन करने और मानसिक तथा शारीरिक समता को प्राप्त करने में प्राणायाम बहुत बड़ा साधन है।[8]

साहित्य - कला - इतिहास - वाणिज्य - अर्थशास्त्र - चिकित्साशास्त्र तान्त्रिकशास्त्र (इन्जीनियरिंग)-शारीरिकशिक्षा आदि अनेकानेक शिक्षापद्धतियों में योग के आसन-प्राणायाम का समान रूप से महत्व

---

5. यो. मीमांसा XII No.–2, 1–8
6. यो. सू. I 33
7. कल्याण–योगांक–562–567
8. कल्याण–योगांक–563

है। उदाहरणार्थ शारीरिक शिक्षा को ही लें। इसमें विविध प्रकार के कठिन व्यायामों से शरीर को अधिक से अधिक स्वस्थ व स्फूर्तिवान् बनाने के लिये जोर दिया जाता है। किन्तु इसमें यदि आसन-प्राणायाम को सम्मिलित कर लिया जाय तो उससे शारीरिक शिक्षा के कठिन व्यायामजन्य विविधविध शारीरिक तनावों, कडेपन, एवं अधिक उम्र में होनेंवाले शरीर के भारीपन को दूर करने में पर्याप्त सहायता मिलेगी, साथ ही मन-मस्तिष्क भी इतना सुस्थिर होगा, जिससे उचित समय पर निर्णय लेने की क्षमता में वृद्धि होगी और इससे खेलों में अपना स्तर और ऊपर उठाने में हम सफल होंगे। शायद यही कारण है कि योग के आसन-प्राणायाम को बडे आदर के साथ शारीरिक शिक्षा में सम्मिलित किया जा चुका है। इसी प्रकार चिकित्साशास्त्र, तान्त्रिकशास्त्र के छात्रों को भी यदि आसन-प्राणायाम की शिक्षा दी जाय तो उन्हे उन-उन तान्त्रिक विषयों के भार को वहन करने में पहले से अधिक उत्साह एवं क्षमता तो प्राप्त होगी ही, साथ ही निरन्तर तान्त्रिककार्यों में उलझे मस्तिष्क के कारण उत्पन्न अत्यधिक तनाव को भी दूर करने तथा पुनः सोत्साह अपने काम को आगे बढ़ाने में सहायता मिलेगी।

योग या यौगिकपद्धति मानव जीवन के दैनन्दिन कार्यकलापों से सम्बन्धित है। अतः अलग से इसे एक पद्धति के रूप में अपनाने के बजाय, इसे दैनन्दिन जीवनपद्धति ही बना लेना चाहिये। यह तभी हो सकता है जब इस विधा को शिक्षापद्धति में सम्मिलित कर अनिवार्य रूप से बच्चों को इसकी जानकारी दी जाय। आज जो समाज में अनुशासनहीनता, उच्छृंखलता, अनैतिकता, चारित्रिक गिरावट और तत्प्रयुक्त नयी-नयी बीमारियाँ बढ़ रही है, उसका एकमात्र कारण है दैनन्दिन जीवनयापन के मूल यौगिक-तत्वों को भूल जाना। हमें यह सतत् स्मरण रखना चाहिये कि नवयुवकों, छात्रों में जो असीम ऊर्जा का स्रोत प्रवाहित होता रहता हैं, उसे समय रहते सही मार्ग से प्रवाहित करने के तरीके की खोज का उत्तरदायित्व हम सबों पर है। और आज इसके लिये सर्वोत्तम साधन है योग के आसन-प्राणायाम को शिक्षापद्धति में समाविष्ट करना।

योग के आसन-प्राणायाम के सैद्धान्तिक व व्यावहारिक शिक्षा के द्वारा निश्चित रूप से शिक्षा एवं योग के उक्त उद्देश्य-"व्यक्तित्व के सम्पूर्णतः विकास" की प्राप्ति सम्भव हो सकेगी, यह लेखक का दृढ़ विश्वास है ।
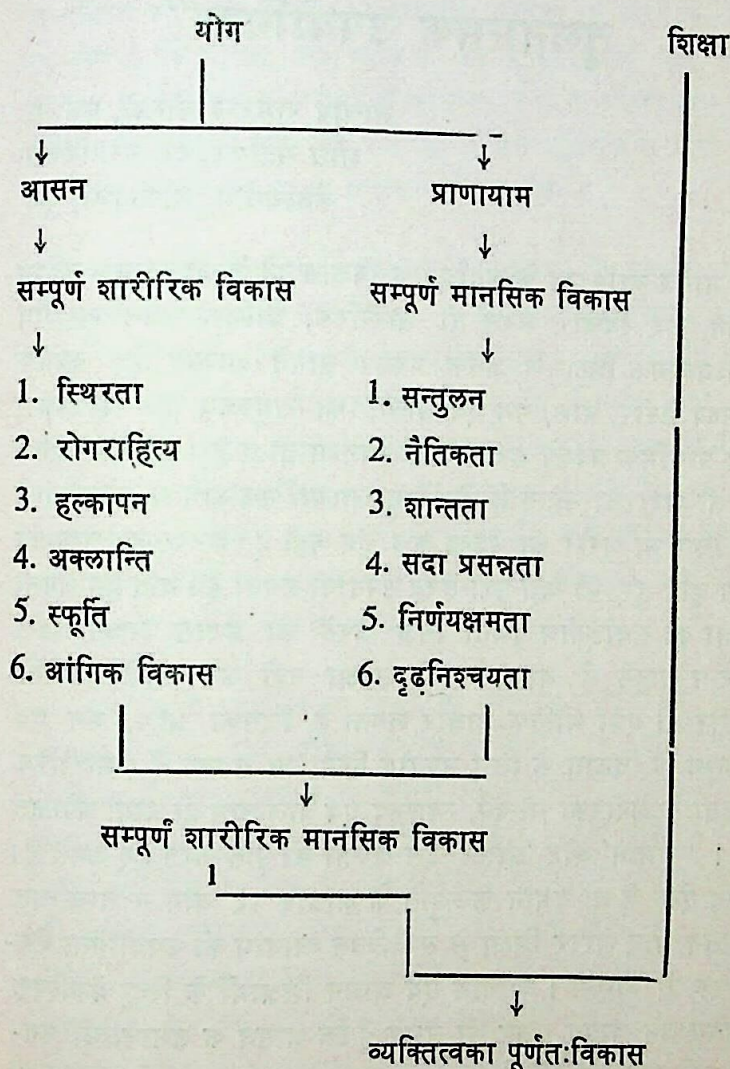
"आसन एवं व्यायाम–शिक्षा में उनकी तुलनात्मक उपयोगिता"

आचार्य रामरत्न शास्त्री, एम. ए.
शोध सहायक, दा. सा. विभाग
कैवल्यधाम, लोणावला, पुणे.

मानव व्यक्तित्व के सर्वाङ्गीण विकास को शिक्षा का मूल उद्देश्य मान कर विचार करते ही शारीरिक, प्राणिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक शिक्षा के अनेक प्रकल्प सामनें आजाते हैं; क्योंकि मनुष्य शरीर, प्राण, मन एवं आत्मा का समुच्चय है। अत:शिक्षा का प्राथमिक प्रकल्प शरीर से ही आरभ्म होता है। भौतिक दृष्टि से तो शरीरका महत्व है ही किन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रवेश करने के लिए भी शरीर का महत्व कुछ कम नहीं है। शरीर जड़ तत्व का अंग होते हुए भी यहाँ पूरी तरह उपयोगी लगता है। यदि हम अपनी सत्ता की सर्वाङ्गीण पूर्णता सिद्ध करने का प्रयास शिक्षा द्वारा करना चाहते हैं तो शरीर की उपेक्षा नहीं कर सकते; क्योंकि शरीर ही ऐसा भौतिक आधार लगता है जिसका प्राण, मन एवं आत्मा के विकास के लिए उपयोग किया जा सकता है। शारीरिक शिक्षा से शरीरका सौन्दर्य, स्वास्थ्य एवं बलिष्ठता ही प्राय: अपेक्षित है। 'व्यायाम' और 'आसन' इस अपेक्षा की पूर्ति करते हुए लगते हैं। यदि ऐसा है तो समान फलश्रुति के आधार पर योग से सम्बन्धित आसन और शरीर शिक्षा से सम्बन्धित व्यायाम की उपयोगिता वैक-ल्पिक हो जाएगी। व्यायाम एवं आसन शिक्षार्थी के लिए वैकल्पिक विषय वन जाएगें। यह भी संभव है कि आसन के समानधर्मी लग-ने वाले व्यायाम को योगाङ्गता प्रदान कर दी जाए औरआसन को

व्यायामपद्धति का अंग मान लिया जाय । आज नई शिक्षा की नीतिके निर्धारण के समय आसन एवं व्यायामविषयिणी चिन्तनधारा कहीं इस दिशा में प्रवाहित हो गई तो न केवल योगाङ्गभूत आसनों की उपयोगिता ही सन्दिग्ध हो जाएगी अपितु शिक्षा में योग को समाविष्ट करने का आधार भी लड़खड़ा जाएगा । अतः आवश्यक हो गया है कि आसन एवं व्यायाम की सीमारेखाओं को उनके स्वरूप, प्रक्रिया एवं परिणामों के आधार पर ठीक समझा जाये और फिर सही दिशा में आगे की ओर वढें । इस शोधपत्र में इसी का समाधान खोजने का प्रयास यथामति किया गया है ।

आसन की वस्तुनिष्ठ संकल्पना के निर्धारण में उसकी व्युत्पत्तिगत अर्थवत्ता पर विचार करना सर्व प्रथम उचित होगा । आसन शब्द 'आस्' उपवेशने धातु से करणार्थक 'ल्युट्' प्रत्यय के संयोग से बना है, जिसका अर्थ हैं—आसतेऽनेनेति'-अर्थात् जिसके द्वारा बैठा जाता है उसे आसन कहते हैं--यथा पद्मासन आदि । अन्य विग्रह के अनुसार 'आस्तेऽत्र अस्मिन् वा'—इति-आसनम्'-अर्थात् जिसपर बैठा जाता है, उसे आसन कहते हैं । एक से शारीर कर्म द्योतित होता है और दूसरे से बाह्य उपकर्म—यथा चैलाजिन कुशोत्तर । यहाँ आसन के पूर्व अर्थ पर ही विचार करना है ।

आसन में उपवेशन की क्रिया ही मुख्यार्थ रखती है । ऐसा लगता है कि धारणा, ध्यान, समाधि की साधना में एक विशिष्ट रीति से बैठ कर अभ्यास की अपेक्षा अनुभव की गई होगी क्योंकि ध्यानादि चलते हुए या लेटे हुए प्रायः सुचारु रूप से नहीं हो सकते । ध्यान के लिये 'ब्रह्मसूत्र' में जितने प्रकार बताये गये हैं-उनमें से एक हैं 'आसीनः सम्भवात्'—अर्थात् बैठकर ही संभव होने से । योग में आसन की संकल्पना महर्षिपतञ्जलि ने 'स्थिरसुखमासनम्' कह कर प्रस्तुत की है । इस सूत्र के अनुसार आसन की परिभाषा कुछ इस प्रकार हो सकती है—आसन बैठने के उन विविध प्रकारों के नाम हैं जिससे स्थिर होकर सुखपूर्वक अपेक्षित समय तक बैठा जा सके । यहाँ

ध्यान देने की बात यह है कि उन विविध प्रक्रियाओं को तभी तक योग का अंग कहा जाना चाहिए जब तक कि उनका प्रयोग स्थिरता पूर्वक अर्थात् निष्कम्प एवं सूखपूर्वक बैठने के लिए किया जाय। भोजवृत्ति यहाँ स्पष्ट है–'तद् यथा स्थिरं निष्कम्पं सुखमनुद्वेजनीयं च भवति–तदा योगाङ्गम् । यो. सू. २.४६.

प्रश्न उठता है यदि स्थिरता और सुखावहता के साथ जो आसन खडे होकर या लेट कर किये जाते हैं-क्या उन्हें योगासन कहा जाना चाहिए ? अर्थविस्तार को लेकर उन्हें 'योगासन' नाम भले ही दे दिया जाए किन्तु श्री पतञ्जलि के अनुसार वे योगाङ्गभूत आसन नहीं हो सकते; क्योंकि ध्यान धारणादि के सन्दर्भ में उपयोगी होने की पूर्णक्षमता नहीं रखते। हाँ–वे शरीर संवर्धन की दृष्टि से बहुत लाभकारी होकर योगाङ्गभूत आसनों के सहायक बन जाते हैं। अब एक नया और अत्यन्त विचारणीय प्रश्न यह उठता है कि 'स्थैर्य' और सुखावहता' यदि व्यायाम प्रक्रिया में भी आते हैं तो क्या 'शरीरसंवर्धनात्मक 'आसन' और 'व्यायाम' एक ही वस्तु हैं ? यदि एक नहीं' हैं तो भेदकरेखा कहाँ खींची जानी चाहिए? यह प्रश्न इसलिए उदित हुआ है कि प्रसिद्ध आयुर्वेद के ग्रन्थों में व्यायाम की जो फलवत्ता बतायी गयी है वह प्रायः योगग्रन्थों में उक्त–हठस्य प्रथमाङ्गत्वात् आसनं पूर्वमुच्यते । कुर्यात्तदासनं स्थैर्यमारोग्यं चाङ्ग लाघवम् ॥१–१७ के अनुसार स्थैर्य, आरोग्य एवं अंगलाघव-आसन के स्वरूप को भी प्रकट करते हैं। चरकसंहिता के सूत्रस्थान में व्यायाम के फल के संबन्ध में कहा गया है– 'लाघवं कर्मसामर्थ्यं स्थैर्यं क्लेशसहिष्णुता । दोषक्षयोऽग्निबृद्धिश्च व्यायामादुपजायते,

॥ च. सं सू. १७

(व्यायाम से शरीर में लाघव, कर्म सामर्थ्य, स्थिरता, कष्टों को सहन करने की शक्ति, दोषों का नाश और अग्नि की वृद्धि होती है) सुश्रुत में भी कहा गया है–

शरीरोपचयःकान्तिर्गात्राणां सुविभक्तता ।
दीप्ताग्नित्वमनालस्यं स्थिरता लाघवं मृजा ।।
श्रमक्लमपिपासोष्णशीतादीनां सहिष्णुता ।
आरोग्यं चापि परमं व्यायामादुपजायते ।। सुश्रु. चि. अ. २. ३९–४०

इस प्रकार हठप्रदीपिका और आयुर्वेदशास्त्र को वैचारिक पृष्ठभूमि में रखकर सोचें तो स्थैर्य, आरोग्य, अंगलाघव–आसन एवं व्यायाम के समानतत्त्व के रुप में दिखायी देते हैं । महर्षिपतञ्जलि के सूत्रों में उपलब्ध स्थैर्य, सुख, द्वन्द्वानभिघात, चरकसुश्रुत में वर्णित स्थिरत्वं' लाघवं, उष्णशीतादीनां सहिष्णुता' के साथ संगति रखते हुए प्रतीत होते हैं । इस आधार पर विचार करते समय आसन एवं व्यायाम में भेदकता स्थापित करना कुछ कठिन सा है । .

मेरी धारणा बनती है कि 'आसन' एवं 'व्यायाम' में मिलने वाले कुछ समान फलों को देखकर दोनों को एक ही या समान मान लेना समीचीन नहीं होगा । आसन एवं व्यायाम की भेदकता की कसौटी है उनके स्वरूप, प्रक्रिया एवं दृष्टिकोण के अपने अपनें आधार । अब इन पर विचार करें ।

आसन का पारिभाषिक स्वरूप 'स्थिरसुखमासनम्' कहकर म. पतञ्जलि ने स्पष्ट कर दिया है कि वह व्यायाम के स्वरूप से भिन्न है । चरक संहिता में व्यायाम की परिभाषा की गई है– 'शरीरायासजननं कर्म व्यायामसंज्ञितम्'–अर्थात् शरीरायास को जन्म देने वाला कर्म व्यायाम कहलाता है । वस्तुतः व्यायाम एक प्रकार का शरीरायाम है जहाँ शरीर को एक विशेष नियमित दिशा में क्रियान्वित किया जाता है । धनुर्वेद में उल्लेख मिलता है–'आयामो विविधोऽङ्गानाम् व्यायाम–इति संज्ञितः' । यही अर्थ 'व्यायाम' की व्युत्पत्ति में निहित है । वि+आङ् उपसर्ग पूर्वक 'यम्–धातु से घञ् प्रत्यय जोड़नें से व्यायाम शब्द की निष्पत्ति होती है जिसका अर्थ है

विशेष प्रकार से (शरीररांगों का) नियमन या विस्तार। व्यायाम में शरीरायास अनिवार्य सा हो जाता है किन्तु आसन में एक विशेष नियमित दिशा में शारीरिक क्रियाओं को संयत करते हुए रोका चाता है। म. पतञ्जलि द्वारा प्रदत्त आसनोपायों में से एक प्रयत्न शैथिल्य का संकेत इसी ओर है। नागोजी भट्ट ने प्रयत्न शैथिल्य को 'वहुलायासनिवृत्ति' कहकर इसे और अधिक स्पष्ट कर दिया है। निश्चय ही प्रयत्नशैथिल्य आसन का असाधारण उपाय है। प्रयत्नशैथिल्य से शरीर चेष्टाओं का नियमन उस अवस्था तक ज़ाता है जिसे 'प्रयत्नोपरम' कहा जा सकता है। यह प्रयत्नशैथिल्य ही स्थैर्य का आधार है। व्यास जी ने इसे स्पष्ट भी कर दिया है– 'प्रयत्नोपरमात् सिध्यत्यासनं येन नाङ्ग्मेजयो भवति।' अर्थात् प्रयत्नोपरम से आसन सिद्ध हो जाता है जिससे अंगो का कम्पन नहीं होता। भ्रान्तिवश आसनगत 'प्रयत्न शैथिल्य' और व्यायामगत 'शरीरायाम' को समानतया ग्रहण कर लिया जाता है, जो युक्ति-युक्त नहीं लगता। व्यायाम में जो शरीरायाम होता है वह शरीर के अंगों की ऐसी क्रियाशीलता है जो विशिष्ट दिशा में नियमित की जाती है–रोकी नहीं जाती, किन्तु आसन में अंगों की प्रत्येक क्रिया-शीलता उपरामकी ओर ले जायी जाती है–अर्थात् रोकी जाती है। यह अन्तर दोनों में सदा बना रहता है।

आसन एवं व्यायाम के अन्तर को दृष्टिकोण के आधार पर भी समझ सकते हैं। आसन के प्रति साधक का दृष्टिकोण 'समाधि' के स्तर में प्रवेश करना है जहाँ स्वरूपावस्था की उपलब्धि होती है। इसीलिए म., पतञ्जलि ने आसन–साधना का दूसरा उपाय 'अनंत में समापत्ति' करना बताया है। कदाचित् वे जानते थे कि स्थिर एवं सुखावह आसन के स्वरूप की अतिव्याप्ति व्यायाम के लक्षण में की जा सकती है–इसीलिए उन्होंने 'प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्यां' का निर्देश कर दिया। व्यायाम का दृटिकोण इससे भिन्न दिखायी देता है। शरीर की चेष्टाओं द्वारा स्थिरता, दृढता एवं बल की

वृद्धि करना व्यायाम का मुख्य लक्ष्य है– 'शरीर चेष्टा या चेष्टा स्थैर्यार्था वलवर्धिनी'– अष्टां. हृ. सू. १२।

यदि व्यायाम की प्रक्रिया पर विचार करें तो आसन और व्यायाम का अन्तर और भी प्रगाढ हो जाता है। चूंकि दोनों के दृष्टिकोण में अन्तर है अतः प्रक्रिया भी भिन्न हो गयी है। आसन का लक्ष्य देहाहंकार को भुला कर चित्त की समाहितदशा की ओर वढ़ना है इसलिये प्रयत्नशैथिल्यात्मक अनन्तसमापत्ति द्वारा 'सम्पूर्ण शरीर का 'नहीं'– जैसा हो जाना इस संवेदना को प्राप्त करना बहुत आवश्यक हो गया है। व्यायाम द्वारा यह स्थिति नहीं आ पाती। आसनोपात्त उक्त संवेदना की उपलब्धि को भोजवृत्ति आग्रह पूर्वक मान्यता देती है– 'यदा चाऽऽकाशादिगत आनन्त्ये **चेतसःसमापत्तिः** क्रियतेऽव्यव-धानेन **तादात्म्यमापद्यते** तदा **देहाऽहंकाराभावान्नासनं** दुःखजनकं भवति'। व्यायाम में शरीरवल, स्वास्थ्यादि को बढ़ाना ही प्रमुख लक्ष्य होने से उसकी प्रक्रिया में कहा गया हैं 'मात्रया तां समाचरेत्'। मात्रा का यहां अर्थ अर्धवल या अर्धशक्ति है और अर्धवल से अभिप्रेत है– फुफ्फुस के अन्तिम सिरे तक छोटे छोटे कोष्टकों में भी जब व्यायाम करते हुए श्वास प्रश्वास होने लगे, उसे वलार्ध कहते हैं। कहा गया हैं– ''हृदिस्थानगतो वायुर्यदा वक्त्रं प्रपद्यते। व्यायामं कुर्वतोजन्तोस्तदा वलार्धं निर्दिशेत्'। अष्टांङ्गहृदय में व्यायाम की प्रक्रिया इस प्रकार बतायी गयी हैं–

''अर्धशक्त्या निषेव्यस्तु वलिभिः स्निग्धभोजिभिः।
शीतकाले वसन्ते च मन्दमेव ततोऽन्यदा ॥ २ ११ ॥''

अर्थात् व्यायाम अर्धशक्ति से करना चाहिए। बल से युक्त (जो अधिक दुर्बल नहीं हों) और स्निग्धभोजियों को करना चाहिए। शीत एवं वसन्तर्तु मे वेगपूर्वक करने के लिए अच्छी ऋतुएँ हैं– वर्षा एवं ग्रीष्म में मन्दतापूर्वक करना चाहिए।

इस प्रकार आसन एवं व्यायाम की प्रक्रियाओं का तुलनात्मक विश्लेषण करें तो दोनों में अन्तर अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है। आसन में 'मिताहार' और 'व्यायाम' में 'स्निग्धभोजन' में अन्तर है। 'बहुलायास' का प्रयत्नशैथिल्य से विराध है। अनन्तसमापत्ति एवं मात्रा (बलार्ध) में भेद है। आसन प्रत्येक ऋतु में सेवनीय है किन्तु व्यायाम को वसन्त एवं शरद ऋतुओं में अधिक वरीयता दी गई है। आसन कोई भी कर सकता है– स्वस्थ, बलवान्, कमजोर, बालक, बृद्ध, तरुण सभी किन्तु व्यायाम के लिए मर्यादा रेखा खींच ही गई है–

"वातपित्तामयी वालो वृद्धोऽजीर्णश्च तं त्यजेत् ॥" अ.हृ.सू.२ १२

अर्थात् वातपित्तवालों, रोगी, बालक, वृद्ध और अजीर्णग्रस्त-लोगों को व्यायाम नहीं करना चाहिए। आसनाभ्यास की तुलना में अति व्यायाम अति हानिकर है–

तृष्णा क्षयः प्रतमको रक्तपित्तं श्रमःक्लमः।
अतिव्यायामतः कासो ज्वरश्छर्दिश्च जायते ॥ अ. हृ. सू.२ १३

अर्थात् अतिव्यायाम से प्यास, क्षय, श्वासभेद, रक्तपित्त, थकावट, क्लान्ति, कास, ज्वर आदि हो जाते हैं।

इस प्रकार आसन एवं व्यायाम में भेद होते हुए भी शरीर-स्वास्थ्य एवं रोगनाशकताको ध्यान में रख कर कुछ परस्पर समानता भी पायी जा सकती है किन्तु आसन में ये गौण और व्यायाम में वे प्रमुख हो जाते हैं। हठयोग के ग्रन्थों में 'आसनेनरुजो हन्ति' प्रायः आया है किन्तु इससे अभिप्रेत मात्र वातपित्तादिजनित रोगों का नाश करना ही अभीष्ट नहीं है अपितु इन से भी ऊपर चित्तवृत्तियो के स्तर पर पाये जाने वाले रजोगुण से उत्पन्न रोगों का नाश भी अपेक्षित रहता है। इसीलिए कहीं कहीं 'आसनेन रजो हन्ति'– यह पाठ भी मिलता है। गहराई से विचार करें तो तथ्य

यह निकलता है कि आसनाभ्यास में ही न केवल प्राणायाम की अपितु इन्द्रियनिग्रहात्मक प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि की भी आधारशिला रख दी गई प्रतीत होती है। यम नियम के पालन की प्रवृत्ति को बढ़ाने में भी आसन सहायक हो सकते हैं।

इस प्रकार आसनाभ्यास योग साधना का महत्वपूर्ण अंग है। महर्षि पतञ्जलिने योगाङ्ग के रूप में ही आसन की जो संकल्पना दी है वह योग के लक्ष्य को दृष्टि में रखकर ही दी है। उनकी दृष्टि से तो आसन का एक ही वर्ग वनता है– 'ध्यानात्मक आसन'; किन्तु शरीरस्वास्थ्य की दृष्टि से किये जाने वाले आसन भी आसन ही कहे गए हैं– अतः उन्हें शरीर संवर्धनात्मक वर्ग में रखा जा सकता है। किन्तु ध्यान रहे शरीर संवर्धनात्मक आसन यदि परम्परया ध्यानोपयोगी आसनों से उपात्त लक्ष्य की पूर्ति में सहायक हों तभी उन्हें योगासन की भूमिका में स्थान दिया जाना चाहिए अन्यथा वे भी व्यायाम पद्धति का एक प्रकार मात्र रह जाएगें।

नयी शिक्षा पद्धति में योग को शिक्षा का अंग बनाये जाने का प्रयास बडी तेजी के साथ चल रहा है। योगासनों की शिक्षा को महत्व दिया जा रहा है। शारीरिक प्रशिक्षण में व्यायाम और उसके अंगभूत खेलकूदादिकों को पहले से ही महत्व प्राप्त है। अतः आवश्यक हो गया है कि दोनों की सीमाओंको निर्धारित करके शिक्षा की नीति निर्धारित की जाए। इसी को ध्यान में रखकर आसन एवं व्यायाम की तुलनात्मक शिक्षा सम्बन्धिनी उपयोगिता पर विचार किया गया है।

'अस्तु', मानव व्यक्तित्व के निर्माण में दोनों की उपयोगिता निर्विवाद है। समाहित चित्त से निर्मित व्यक्तित्व में ऊर्जा का विकास जितना आवश्यक है, उतना ही शारीरिक स्वास्थ्य से उपलब्ध स्फूर्ति, बल, पराक्रम आदि भी अपेक्षित हैं। आसन यदि पूर्वलक्ष्य

को प्राप्त कराने में उपयोगी भूमिका निभाते हैं, तो व्यायाम प्रक्रिया से दूसरे लक्ष्य की प्राप्ति होती है। अवहेलना किसी की भी नहीं की जा सकती। ये परस्पर विकल्प भी नहीं हैं। व्यायाम जहाँ अपनी लक्ष्यता का पथ पूरा कर चुकता है आसन उसके आगे का कार्य मन, प्राण, बुद्धि और चिति के क्षेत्र में कार्य करता है। इस आसन का शरीरसंवर्धन से कोई विरोध नहीं है। अतः व्यायाम का प्रतिपक्षी भी नहीं है। दोनों ही समानान्तर मानव व्यक्तित्व के निर्माण में अपनी अपनी भूमिका निभाने में स्वतन्त्र हैं। शिक्षाविद्, नेतागण एवं विचारक इन विचारों की छाया में अग्रसर हों और नई शिक्षा पद्धति की दृढ़ आधारशिला रखें। इनसे संबद्ध नए पाठ्यक्रम भी इसी परिप्रेक्ष्य में तैयार किए जाए तो अच्छा है। ऐसा करने से शिक्षा में न केवल आसन तथा व्यायाम की ही उपयोगिता चरितार्थ होगी अपितु योग के समग्र रूप के समावेश का भी मार्ग उचित दिशा में प्रशस्त होगा।

नोट– उक्त लेख 'अन्तर्राष्ट्रीय योग एवं शिक्षानुसंधान पर आधारित द्वितीय सम्मेलन मे पढ़ा गया।

"अगर तुम्हारे अन्दर कोई बुरा विचार हो जो तुम्हें सताता और परेशान करता हो तो उसे बहुत सतकर्ता से, बहुत सावधानी के साथ, अपनी चेतना और संकल्प लगा कर उसे एक कागज पर लिख लो, फिर एकाग्रता के साथ इस संकल्प से फाड़ डालो कि विचार भी इस तरह फट जाय। इस तरह तुम उससे छूट जाओगे"।

श्री मां

अल्फा बायोफीड बैंक–अनुसंधान

डाक्टर आर. पी. पाण्डेय
अन्तर्राष्ट्रीय योग चिकित्सक और शिक्षक
निराला नगर विलासपुर (म. प्र.)
पिन ४९५००१

हमारा मस्तिष्क निरन्तर क्रियाशील रहता है। मस्तिष्क की सभी क्रियाएँ विद्युतीय हैं। इसकी तरंगोंको E. E. G. द्वारा चित्रित किया जाता है। तरंगके अध्ययन के आधार पर बायोफीड नामक मशीनका आविष्कार हुआ। इस मशीन के सहयोग से व्यक्ति मन और मस्तिष्कको अपनी इच्छानुसार शांत कर विश्राम को प्राप्त कर सकता है। यह मानवता का स्वतंत्रता की ओर एक नया अन्वेषण है। हम मशीनों द्वारा, अपनी अन्तःशक्ति का विकास कर रहे हैं। यह मशीन मस्तिष्क तरंगों का चित्रण करती हैं। इस प्रकार, वहाँ की स्थिति पुनः संवेदना के रूप में, हमारी ज्ञानेंद्रियों को प्राप्त हो सकती हैं। हम पुनः उन्हें टंकित कर सकते हैं। इस पद्धति से, हम मशीन के सहयोग से शरीर व मन का ज्ञान-संवर्धन जल्दी कर सकते हैं। इसी ज्ञान को, अनादिकाल से, योगी और ध्यानाभ्यासी, ध्यान व योग की विभिन्न विधियों द्वारा प्राप्त करते थे।

वैज्ञानिक अनुसंधानों द्वारा, ध्यान व अल्फा–तरंगों का संवंध प्रमाणित हो चुका है। लेंगली पोर्टर न्यूरोसाइक्रियाटिक इन्सीट्युशन के जायकीमिया ने सिद्ध किया है कि झेन शिक्षक ध्यान अवस्था में, साधारण अवस्था की अपेक्षा, अधिक अल्फा तरंगों को दर्शाते हैं, तथा वे किसी भी समय, इन्हें वंद या प्रारंभ कर सकते हैं। इसी प्रकार संगीतज्ञ, कलाकार व खिलाड़ियों की अल्फा तरंगे

उनके नियंत्रण में देखो गयीं जिस प्रकार योगी या प्रज्ञावान् लोगों की होती हैं। न्यूयार्क के स्टेट यूनिवर्सिटीं के मनो–चिकित्सक और अन्वेषक स्नोटी ब्रुक का कहना है कि अल्फा तरंगों का आनंददायक अनुभव अति प्रखर व अनिर्वचनीय होता है। कीमिया इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि आनन्ददायक अनुभूति का कारण, अल्फा तरंगों की उत्पत्ति से अधीरता या व्यग्रता का शमन होता है।

आधुनिक व्यस्त दैनिक जीवन में, अल्फा तरंगों को उत्पन्न करने वाली मशीन बहुत उपयोगी सिद्ध होगी। विशेषत: औद्योगिक समाज के लिए। उदाहरणार्थ मनोचिकत्सक ऐसी मशीन का आविष्कार करना चाहते हैं, जिससे मानसिक रोगोंपर अधिकार प्राप्त किया जा सके। इससे अनिद्राके रोगी स्वयं अपने रोग पर काबू पाने में समर्थ हो सकेंगे। टेक्सास (यू. एस ए) इंजीनालस्कूल के समस्यामूलक बच्चों पर, अल्फा तरंगों के कुछ प्रयोग किए गए। उन्हें शांत करने के लिए, उपविष टिकियों की जगह, अल्फा तरंगों में वृद्धि की गई। इससे उन्हें बहुत लाभ हुआ। केसास मेनिन्जर फाउन्डेशन में काम करने वाले मनोवैज्ञानिक एल्मरग्रीन ने एक कदम आगे बढकर व्यक्तियों में अल्फा तरंगों को उत्पन्न करने के बाद तुरंत बीटा तरंगों को लाने का प्रशिक्षण दिया। चेतनास्तर में स्वयंसृजनात्मक अवस्था में आना इससे उनकी कुंठित प्रतिभा उजागर होती है व दमित संस्कार तथा कुंठित विचारों का शमन होता है। १९ वीं सदी में केंटन नाम के व्यक्तिने देखा कि चूहे और बंदर अपने मस्तिष्क में विद्युत तरंगें इकठ्ठी करते हैं। उन्हें सोने से जगाकर या मृत्यु के पास जाने पर, उनपर तीव्र–रोशनी फेंकने पर और इसी प्रकार के अन्य अचानक स्थिति–परिवर्तन के समय जानवर के सिर पर इलेक्ट्रोड लगाकर गल्वानोमीटर से उन्होंने यह परीक्षण किया।

सन् १९२२ में हेन्स बर्नर ने, जो एक जर्मन डाक्टर था ई. ई. जी पर एक अनुसंधानात्मक किताब लिखी। ये प्रयोग मनुष्यों पर

किए गए थे। उसने आवृत्ति में अतंर देखा। उसी प्रकार दवाव में भी परिवर्तन देखा, कि चेतना के साथ अल्फा वीटा तरंगें कैसी परिवर्तित होती हैं। उसने साधारण मनुष्यों से लेकर सिजोफ्रेनिक पागल, निराश, अपस्मार के रोगी और उपविष खाने वालों पर विभिन्न प्रयोग किए।

अल्फा का रहस्य :–

अमेरिका में आज फीडवैक का बहुत प्रचलन है। यूरोप और दूसरे औद्योगिक देश, इस ज्ञान को बढ़ाने और प्राप्त करने के लिए बडे उत्सुक हैं। पूर्व में तो ५००० सालसे यह विद्या विना मशीन के चली आरही है। अल्फा प्रेमी बडे उत्सुक हैं कि वे अपने मस्तिष्क की तरंगों पर व अनैच्छिक शारीरिक अवयवों दर, चेनना के विभिन्न स्तरोंपर अधिकार प्राप्त करें जिससे उन्हें उपविष टिकियों का उपयोग न करना पडे। इससे अधिक उत्सुक हैं वे उद्योगपति जो इन मशीनों के लिए पूंजी लगाने को तैयार हैं, जिसे वे २०० डालर से लेकर ३०० डालर में बेच सकें। बहुतसे व्यक्ति सोचते है कि अल्फा तरंगों पर जीना अधिक रुचिकर है। अतःउन्हें बचाए रखने का सतत उपाय करते हैं।

अल्फा तरंगों पर अधिकार करने के लिए, सर्वप्रथम शरीर और मन को जानना होगा। अल्फा, बीटा से न अच्छी है न खराब, दोनों बीमारी की अवस्था में भी उत्पन्न हो सकती हैं। आध्यात्मिक अनुभव के समय भी उत्पन्न हो सकती हैं। इस के लिए नियंत्रण शब्द का प्रयोग होता है। मस्तिष्क की स्थिति पर नियंत्रण होना चाहिए। तभी चेतना पर अधिकार पाकर हम स्वतंत्र स्वैच्छिक प्राणी बन सकते हैं।

बायोफीडबैक के आलोचक कहते हैं कि शरीर विना मशीन की सहायता के काम कर सकता है। अतः उसे स्वतंत्र कार्य प्रणाली में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। पर आज जो ५०० वर्षो से

भयंकर मानसिक बीमारियों की वृद्धि हो रही है, मानव जिस प्रकार निराशा, दु:ख की सीमा का अतिक्रमण कर रहा है उन को नियंत्रित करने के लिए मनुष्य इन नवीन अनुसंधानों की ओर प्रेरित हो रहा है। यदि हम अपने मस्तिष्क की विद्युत–तरंगों चाहे वे अल्फा हों या वीटा या थीटा, को अधिकृत कर लेते हैं तो उसी प्रकार व्याधियों के क्षेत्र को भी अधिकृत कर लेते हैं।

शरीर के प्रति सजगता, हमें अपने शरीर को चलाने में मदद करती है और गलत चरण रखने से रोकती है जो आगे चलकर बीमारी का कारण होता है। नियंत्रण से ज्ञान संवर्धन होता है और हमारी प्रतिभा का विकास होता है। अत: हम जब चाहें, आराम और काम दोनों सफलता पूर्वक कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, वीटा तरंग के चलते, सड़क को पार करना दुर्घटना को आमंत्रण देना है। किसी अनुसंधान पुस्तक को लिखने के लिए या गहरी मानसिक एकग्रता पाने के लिए, प्रभावशाली वीटातरंगों की अवश्यकता होती है। दोनों, अल्फा और वीटा तरंगें आनंददायक भावनाओंकी उत्पादक हैं। दोनों के संयुक्त कार्य कलापों से, दैनिक जीवन अच्छी तरह से यापन किया जा सकता है। हम प्रत्येंक कार्य, क्रिया, विचार और भावना के प्रति सतर्क रह सकते हैं और प्राप्त स्थिति में उचित व्यवस्था कर सकते हैं। यही योग है 'कर्म में कौशल'।

गियर बदलना

इस मशीन का अर्थ है, साधारण चेतना में, चित्तकी एकाग्रता से लेकर गहन निद्रा तक, विभिन्न आयामों में पूर्ण सजगता के साथ प्रवेश का सामर्थ्य प्राप्त करना। वायोफीडवैक हमें, कार के गीयर बदलने के सदृश ही अपनी चेतना के विभिन्न आयामों को, पूर्ण नियंत्रण के साथ बदलने का सामर्थ्य प्रदान करता है। इसके द्वारा हम अपने अन्त:प्रदेश का भ्रमण सरलता से कर सकते हैं। हमें अपनी गाडी को कभी कभी रोकना भी पड़ता है। मगर हम में से कितने लोग जानते हैं कि वह रोकने और चलाने वाला बटन है कहां ? वायोफीडवैक यही सिखलाता है।

प्रथम चरण अल्फा

एक बार हम अल्फा तरंगों को स्वप्रयत्न से उत्पन्न करने में सफल हो गए कि समझिए, अन्त:खोज व शांतिकी सफलता का यह प्रथम चरण है। इसको सीखने के बाद, बायोफीडबैक का शिक्षक मशीन को हटा लेता है व व्यक्ति, स्वप्रयत्न द्वारा स्वतंत्र रूपसे अन्तर्खोज में बढ़ता है। स्वत:अन्तर्खोज कठिन है परंतु ध्यान के विधिवत अभ्यास की आवश्यकता है। ध्यान द्वारा व्यक्ति अन्तर्जगत की खोज वे रोक टोक कर सकता है।

बायोफीडबैक को आंख खोलने वाली मशीन कह सकते हैं जो एक नवक्रांति के आरंभ कर्त्ता की भूमिका निभाता है। विशेषत: उन लोगों के लिए जो भौतिक जगत से पूर्णत: जुडे हुए हैं। बायो फीड बैक इनके लिए चेतन के सूक्ष्म स्वभाव को समझने का एक अच्छा माध्यम बन जाता है। मन प्राणों के सूक्ष्म स्वभाव को समझने में सफल होता है। इस के द्वारा मन पुरानें अनुबंध तोडकर व्यक्ति चेतना के विकास–पथ पर आगे बढने को तत्पर होता है। इसमें योग ही उसकी मदद कर सकता है। योग द्वारा ही वह अन्तर्जगत की खोज में सफल हो सकता है।

प्रत्यक्ष उपयोग

इस क्षेत्र में यह मशीन, चिकित्सा–पद्धति में नवीन दिशा की ओर मोड़ ले रही है। लोग जान रहे हैं कि अपने स्वभाव का दायित्व और रोग को दूर करने का सामर्थ्य स्वयं में है। मन की शक्ति का ज्ञान होगा जिससे वह समझ सकता है कि बीमारियां होने से रोकी जा सकती हैं और होने पर अच्छी की जा सकती हैं। इसके लिए बायो फीड बैक व योग का सम्मिलित प्रयोग किया जावेगा।

बायो फीड बैक से हम अपने अनैच्छिक स्नायविक संस्थान जैसे रक्त-चाप पर अधिकार प्राप्त कर सकेंगें। हम शरीर स्वास्थ्य प्राप्त

कर सकेंगे। इस प्रकार हम अज्ञात–शक्ति के हाथ में पुतले नहीं बने रहेंगे।

अनुसंधान कर्ताओंने बायोफीड द्वारा, बीमारी के ऊपर अधिकार प्राप्त करने का प्रयास जारी रखा है। सन् १९६० में कोलोराडो मेडिकल स्कूल के थामस वुडर और जोहानस्टोमयाने सिर दर्द और अनिद्रा रोग के किए ई.ई.जी का उपयोग किया। यह मशीन मांस पेशीय विद्युत–तरंगों की गति–विधि को पकड़कर कई गुना बढ़ाकर सुनने लायक बना देती है। सन् १९७५ में इन दोनों ने उन रोगियों को लिया जो तीव्र मस्तिष्क बोझसे दो साल से आक्रांत थे। उन्हे अपने माथे की मांस पेशियों को शिथिल करने के लिए कहा गया और इस प्रकार ई. ई जी पर ध्वनि धीमी करवाई गई।

तीव्र ध्वनि तनाव का चिह्न है। उन्होंने देखा २० मि. बाद रोगी का तनाव आधा रह गया। चौदह बैठकों के बाद दैनिक अभ्यास से पहले ही सो जाता था और वे उसे आने से पहले रोकने में समर्थ हो जाते थे। उन्हें स्वयं में गहरा अनुभव हुआ और गहरी विश्राम की स्थिति प्राप्त हुई। खास कर ई. ई. जी फीडबेक के सहारे और बाद में आक्त पड जाने पर स्व–प्रयत्न द्वारा।

मानसिक चिकित्सालयों में, वुडरकी और सहायक सहयोगियों ने उसे प्रयुक्त किया है। उन्होंने एक २२ वर्ष की लड़की की, अनेक दुस्स्वप्नों से छुटकारा दिलाया, उसे लगता था कोई उस पर हमला कर रहा है। उसके मन में कार का भय समाया था। इन प्रयोग कर्ताओं ने भय के कारणों से उसका सामना कराकर उसे विश्राम की स्थिति में आना सिखाया। धीरे धीरे उसका भय कम होने लगा। यहविधि अन्तर्मौन के अभ्यास की तरह है। आंतरिक चेतना के प्रति सजगता और ध्यान वही प्रभाव डालते हैं जो प्रभाव फीडबैक का होता है।

वुडरकी ने अनिद्रा रोगियों को भी सुलाया है। ई. जी. एम. मशीन के प्रयोग से उन्हें सिखाया कि कैसे विश्राम की स्थिति को लाया जा सकता है। फिर उसने उन्हें मशीन के सहारे उन धीमी विद्युत तरंगों तक लाया जो सोने के पहले आती हैं। उस प्रकार जो रोगी सोने के लिए चार घंटे लेते थे अब प्रयोगशाला में २० मि. में गहरी निद्रा में चले जाते थे। अतः ऐसा लगता है कि कुछ दिनों के बाद डाक्टर रोगियों को उपविष टिकियों के बदले ई. ई. जी मशीन देंगे।

केन्सास के टोपेका शहर के मेंन्निञ्जर फाउन्डेशन के डाक्टर जोसेफ सार्जेन्ट ओर उनके सहयोगी डा. एग्न्यर और डा. एलिख-ग्रीन माइग्रेन के सिरदर्द को दूर करने के लिए वायोफीडवैक मशीन काम में लाते है। मस्तिष्क की रक्तवाहिनियों में जब रक्त का दबाव अधिक हो जाता है तब यह दर्द उठता है। साधारण उपचार यह है कि हाथ और माथे को ठंडे पानी से धोते हैं जिसमें रक्तवाहिनियाँ सिकुडने लगती हैं। इन का पूरे शरीर पर प्रभाव पडता है और दर्द कम होने लगता है। रोगियों को निम्न लिखित आदेश दिया जाता है 'तुम्हारा हाथ खूब भारी हो रहा है। उसमें झुनझुनी आ रही है। उस में अब गर्मी आ रही है।' इस प्रकार रक्त वाहिनियों पर अधिकार प्राप्त करना सिखाया जाता है। एक बार यह विधि समझ में आ जावे तो कहीं भी इसका उपयोग हो सकता है। मशीन की आवश्यकता नहीं रहती।

इसी के अनुरूप योग में एक पद्धति योगनिद्रा है। इसके द्वारा मन अर्ध चेतन अवस्था में चला जाता है जहां से अनैच्छिक स्नाय-विक केन्द्रोंपर नियंत्रण स्थापित होता है। तब सजग भाव से मनुष्य अनुशासनात्मक प्रयोग करनें लगता है। सर्दी, गर्मी, भारी, हलका दर्द और आनंददायक अनुभूति इच्छानुसार कर सकता है। इसी प्रकार भावनात्मक जगत पर अधिकार होने लगता है और दुखद भावनाओंके बुरे प्रभावों को नियंत्रण में रखा जा सकता है। सीटल

के डाक्टर व्हाटमोर वाशिंगटन (अमेरिका) ने ई–ई–जी का प्रयोग मानसिक व्याधियों के लिए किया है जो कोलाइटिस से उत्पन्न होती हैं। पीठका दर्द, निराशा, रक्तवाहिनियों की बीमारी और चर्म रोगों पर भी किया है। उनका यह कहना है कि लगातार ऐच्छिक मांसपेशियों पर बोझ पड़ने और थकान के कारण भी ये बीमारियाँ पैदा हो जाती है। यह भी योग पद्धति से मेल खाता विचार हैं।

अमेरिका के वाल्टीमोर अस्पताल के मनोचिकित्सक डाक्टर बर्नार्ड एंगेल ने इसका प्रयोग हृदय के रोगियों पर किया। रोगियों को हृदय की गति बढ़ानें का अभ्यास कराया गया। इस परीक्षण से यह सिद्ध हुआ कि यद्यपि प्रशिक्षण कठिन और समय बर्वाद करने वाला है पर औषधियों से छुटकारा दिलानेवाला है। यह इलाज रोगी को अपने शरीर पर उसके नियंत्रण की अनुभूति कराता है। एक महिला रोगी अत्यन्त प्रसन्न होकर डाक्टर के पास कहने आई कि वह हृदय गति की धड़कन से आनेवाली बेहोशी को रोकने में समर्थ होगयी है।

कई वर्षों से लोग आसन, प्राणायाम, ध्यान और दूसरी पद्धतियों को आधुनिक जीवन के साथ जोड़कर, जीने के लिए आग्रह कर रहे हैं। जीवन को पूरी तरह जीने के लिए सामान्य नियम आवश्यक हैं।

आज चिकित्सा जगत में योग, नवीन पद्धतियों ओर बायो फीड-वॅक को मिलाकर रोगों का सामना कर रहा है। खासकर मानसिक असंतुलन व तज्जन्य बीमारियां दैनिक तनाव का परिणाम हैं। वायो फीड वैक की प्रक्रिया, मन के क्षेत्र में शक्ति और अचेतन मन के प्रभावों के हेतु एक शक्तिशाली कदम है। योगाभ्यास से प्राण शक्ति का विकास होता है जो शरीर और मन को लचीला बनाता है। व्यक्ति को स्वास्थ्य और स्वतंत्रता प्रदान करता है।

(सन्दर्भ : योगविद्या से संकलित।)

गताङ्क से आगे–

शंकर विजय

मू. ले. स्वामी दिगम्बरजी
अनुवादक आचार्य रामरत्न शास्त्री

अध्यात्म के श्रुतिप्रतिपादित तीन मार्ग–कर्म, उपासना और ज्ञान हैं। ये तीन श्रेणियाँ हैं– एक में से दूसरे में और दूसरे में से तीसरे में जाने के लिए। किसी एक ही को पकडकर रखना फलदायी नहीं। कर्म में से उपासना में और उपासना में से ज्ञान में पहुँचकर परि-समाप्ति हो जाती है, परन्तु ये तीनों रहते अविभाज्य ही हैं।

कर्म, भक्ति एवं ज्ञान में से किसी एक ही को पकड कर रखने से पाखण्ड आ जाता है। यह पाखण्ड बाद में बढते बढते बढता ही जाता है। पाखण्ड आता है मोह से। मोह एक आवरण है जो बाद में पाखण्ड के रूप में विस्तृत हो जाता है। प्रश्न उठता है मोह कहाँ से आकर खडा हुआ? भीष्म ने परमात्मा की स्तुति की है। उसमें 'मोहात्मनें नमः' संबोधन करके नमस्कार किया है। अर्थात् स्नेहरुपी पाश के बन्धन से प्राणिमात्र को मोहित करने वाले 'मोहात्मा' को नमस्कार।

परमात्मा की मोहरूपी कला यदि अखिल सृष्टि में विचरती न हो तो सृष्टि चले ही नहीं। वस्तुतः पाखण्ड की जड़ रोपने वाला यह मोहत्मा ही है। 'जो अच्छा है वही भगवान् का है और जो बुरा है वह भगवान् का नहीं–ऐसी बात उचित नहीं। अच्छा बुरा–सब कुछ भगवान् का ही है। 'सब अच्छा ही भगवान् में से निकला है'

ऐसा आग्रह चलेगा नहीं। हाँ–उसमें जो अच्छा है–वही उपास्य व सेव्य है।

जीवात्मा कर्म करता ही रहता है। कर्म करना-यह तो जीवात्मा का स्वभाव है। परन्तु फल की अपेक्षा से हुआ कर्म मोह से होता है और यहीं मोह के आवरण में पाखण्ड प्रवेश करता है। कर्मकरो– किन्तु कर्म के लिये ही कर्म करना-बस वही कर्म। कर्तृत्व से एवं भोक्तृत्व से रहित होकर। फल की इच्छा के विना; निरपेक्ष भाव से किए गए कर्म में पाखण्ड का प्रवेश होगा ही नहीं।

कर्म इन्द्रियों से होता है। पूजा, अर्चा करनी है तो हाथ भी चाहिए। दर्शन करना है तो आँख चाहिए। अब सोचिये-आँख नहीं तो क्या उसके लिए भगवान् नहीं ? उसके लिए क्या भगवान् की स्थिति बन्द हो गयी ? अतः अकेले कर्म को प्राधान्य देना चलेगा नहीं। और इसी कारण श्रेणियाँ बनायी गयी हैं। कर्म से से उपासना जागृत करनी चाहिए और उपासना में से ज्ञान। इस प्रकार सामान्यक्रम वना है। कर्म उपासना एवं ज्ञान उत्तरोत्तर अध्यात्म की ओर बढ़ने की समन्वित एवं क्रमवद्ध श्रेणियाँ हैं जो जीवन के चरमलक्ष्य को अधिगत कराती हैं। इन्हें भिन्न या परस्पर विरोधी नहीं मान लेना चाहिए।

यह विवेक जहाँ नहीं रहेगा वहाँ पाखण्ड प्रविष्ट हो जाएगा। यह पाखण्ड उस मोह की कला है। उस मोह की कला के पास ही मोह पर बन्ध लगाना पडता है। मोह को जिसने उत्पन्न किया है, बन्ध भी उसी के माध्यम से लगेगा। मोह का निवारण भी उसी की कला से होगा।

'कालः कलयतामहम्'–अर्थात वश करनेवालों मे काल मैं हूँ। कल क्रियापद का अर्थ है To Move कल और वल ये ऐसे क्रियापद हैं कि उनका उपयोग बैठने, चलने, धारण करने जैसे अर्थों में होता है। इसी क्रियापद का प्रयोग हमलोग 'पधारो' जैसे व्यापक

अर्थवाले शब्द के रूप में भी करते हैं। खाना, घूमना, सोना इत्यादि क्रियाओं के साथ आओ, पधारो शब्द का उपयोग कर सकते हैं वैसा ही व्यापक उपयोग इनका होता है। जैसा अनुसंधान वैसा उसका अर्थ होता है। यही उस क्रियापद की विशिष्टता है।

'कलयति इति कालः'– अर्थात् बिना रुके चलता ही रहता है– वह काल है। भगवान कहते हैं 'मैं' वह काल हूँ। इस सृष्टि को धारण करना, चलाना, शान्तकर देना, इन सब में काल रूपी 'मैं' हूँ। घटिका, पल, विपल, सुबह, दुपहर, शाम, रात, दिन, इस प्रकार चक्र घूमता रहता हैं। उन में भी काल स्वरूप 'मँ' हूँ। इस काल को सामान्य बुद्धि से मृत्यु माना जाता है। घडी का चक्र घूमता रहता है मानो काल का चक्र घूम रहा है। समय संकेतित होता रहता है यदि समय चक्र न फिरे तो मनुष्य काम किस प्रकार करे? ऐसा ही है काल का स्वरूप। घटनाओं को जन्म देनेवाला क्षण प्रतिक्षण के रूप में जाने जानेवाला यह काल सनातन रूप से है– इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

हजारों क्रान्तियाँ हो गयीं, पुराना नष्ट हो गया । क्रान्ति से नया कुछ आया। विधवाविवाह, महिला प्रगति, हरिजनोद्धार ये सब क्रान्ति से आया हुआ हैं– ऐसा हम लोग मानते हैं। परन्तु थोड़ा सा विचार करें तो पता लगता है कि यह सब कालचक्र की चाभी के ही फिरने का परिणाम है। यही मानना उचित है। 'मैंने क्रान्ति की और यह सब आया'– इस प्रकार की मान्यता में अधिक बुद्धिमता दिखायी नहीं देती।। हाँ– सिर्फ निमित्त बन सकते हैं। पहले जो कुछ नहीं कर सकते थे– अब करने लगे हैं– इसे किस पुरुषार्थ का फल मानेगें? जिनको छू कर पानी भी नहीं पीते थे– अब पीने लगे हैं। विधवाविवाह अब होने लगा है। देखना यह है कि इनमें उन्नति की गयी है या हुयी है ? वास्तविकरुप से देखा जाए तो मालुम होगा कि काल ही फिरता फिरता वहाँ पहुँचा और उनके बन्धन छूट गए। छूट दे दी गयी। और यह जो हुआ और होता है

उसके पीछे, बैठा हुआ काल और उसकी शक्ति ही प्रमुख कारण है। जो हो रहा है और जो आगे होगा–वह भी कालचक्र के प्रभाव से ही सम्भव है। मै ही 'कर्ता हूँ'–इस अज्ञानता को नरसी मेहता ने अपन पदों में बहुत अच्छी तरह रखा है। जैसे श्वान बैलगाडी के नीचे चलते हुए सोचता है कि बैलगाडी को वह खींच रहा है,' उसके कारण ही बैलगाडी चल रही है किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। ठीक इसी प्रकार निमित्तरुप व्यक्ति अपने को कर्ता भले ही मान ले किन्तु वह काल भगवान् के द्वारा ही प्रेरित है–उसमें अपनी कोई सामर्थ्य नहीं।

श्रुति प्रतिपादित कर्म, उपासना और ज्ञान में पाखण्ड बढ़ गया है। उससे देव भी व्याकुल हो उठे। रहने का, परित्राण का प्रश्न हो तो वे क्षीरसागर में पहुँचते हैं। ज्ञानका प्रश्न आता है तो कैलाश में भगवान् शंकरके पास पहुँच जाते है। पाखण्ड से व्याकुल होकर देव भगवान शंकर के पास पहुँचे। कैलाश शिखर के ऊपर देवगण स्तुति करते हुए कहने लगे–"भगवन् ! श्रुतिप्रतिपादित तीनों मार्गो में पाखण्ड बहुत घुस गया है। उसके अन्दर की सच्चाई बिल्कुल लुप्त होने लगी है और पाखण्ड बढ़ता ही जाता है।"

पूर्ण सृष्टि की बात हो तो अवतार की बात आती है– 'यदा यदा हि धर्मस्य–' की बात आकर उपस्थित हो जाती है। पर यहाँ तो ज्ञान की कला के बढाने की बात है जिसकी परिसमाप्ति भगवान् शंकर में होती है। यह सत्य भी है 'ऐसा प्रतीत होता है। 'ईशानः सर्व विद्यानाम्'–अर्थात् श्री शंकर सर्व विद्याओं के आश्रय एवं उद्गमस्थान हैं। वे ज्ञान के अधिपति हैं।

हाँ–तो वैदिक प्रणालिका के अन्तर्गत पाखण्ड बहुत बढ़गया है– इस प्रकार का निवेदन देवों ने किया। मोह का आवरण डालनेवाला ही उस आवरण को हटाता भी है। ऐसी प्रार्थना देवों ने की। "कर्म मार्ग को पकडकर बैठनेंवाला अपनी घंटी बजाता ही रहता है किन्तु चैतन्य का आविर्भाव होता ही नहों। उपासना मार्ग और उसके

आगे जो ज्ञान मार्ग है–वह पूरी तरह विस्मृत हो चुका है। पाखण्ड बढ़ता ही जाता है"। देवों की इस प्रार्थना को सुन कर श्री शंकर ने आश्वासन दिया। यही आश्वासन जगद्‌गुरु शंकराचार्य के अवतार के रहस्य का मूल है। यहाँ थोडा इस पर भी विचार करें।

व्याबहारिक दृष्टिसे अच्छा बुरा बोलते है, पर आध्यात्मिकता उससे परे है। व्यवहार से भी परे है। व्यवहार की बुद्धि अध्यात्म के अन्दर नहीं चलती। भूताकाश और अन्तराकाश से भी परे अतीन्द्रिय ऐसा अध्यात्म का चिदाकाश नामक प्रदेश है। मनुष्य की बुद्धि वहाँ चलती नहीं, वहाँ तो शान्त हो जाती है। परन्तु होता है ऐसा कि मनुष्य की बुद्धि, उसका चातुर्य उसमें भी घुस जाता है। मनुष्य जिस प्रान्त या प्रदेश में गया नहीं किन्तु जब वह उस प्रदेश की चर्चा या बातचीत करता है; अथवा हिमालय जिसने देखा नहीं उसकी चर्चा जब कोई किसी के समक्ष करता है और उसी प्रकार का श्रोता जब ऐसी संमति देता है कि मानों वह उस सबसे परिचित हो, तभी कोई व्यक्ति जिसके अपने आप्तजन उस प्रदेश या हिमालय जाकर आए हैं उनकी कही हुयी बातों से तुलना करता है तो उसे लगता है कि लोंगोंने बिना देखे जो कुछ कहा हैं वह कितना झूठा, अतिरंजित और गप्प है! वह आगे सुनना नही चाहता प्रत्युत विरोध करके आगे बोलने के लिए चुप करा देता है। यहाँ यदि विचार करें तो आप्त वाक्य जैसे आधारभूत हें सत्य की उपलब्धि में, इसी प्रकार आध्यात्म में पाखण्डलीला न चल सके, इसके लिए हमारे पास हैं–श्रुति वाक्य–अपनिषद् वाक्य। हमारे ऋषि मुनि जो कुछ कह गए हैं–वह उपदेश ही हमारे लिए अन्ततः प्रमाण रूप मान्य हैं।

'रात के दो दो बजे तक अध्यात्म के नाम से चलती धुन में 'कासिया' (वाद्य) बजाते हैं' ऋषिमुनि जनों का यह वाक्य– 'यावन्नदीयतेऽर्ध्यं भास्कराय महात्मने। तावन्न पूजयेद् विष्णुं शिवं चापि कदाचन' सत्य है। जिसने दो बजे तक अध्यात्म को धुन में

कांसिया बजाना है–उसे तत्पश्चात् शय्या की शरण लेनी ही है, और जिस अध्यात्मी की विष्णुपूजा या शिवार्च्या सूर्य को अर्घ्य दिये बिना पूर्ण नही होनेवाली बह रात्रि के दो बजे के बाद विस्तर पर लेटे रहना कैसे पसन्द करेगा ? इन दोनों बातों में हमें किसको स्वीकार करना, मान्यता देना चाहिए ? यह प्रश्न है। इसका उत्तर हमारे आप्त वाक्य ने दिया है। ऋषि मुनिजनो के वाक्य हमारे लिए आप्त वाक्य हैं। उक्त प्रकार के प्रश्नों का समाधान आप्त वचन से ही हो सकता है।

भगवान् शंकर देवों की प्रार्थना के उत्तर में कहते हैं– "आपकी शंका मैं समझ चुका हूँ। कर्म के नाम पर उपासना के नाम पर, दूषित आचार घुस गये हैं। उनको निकालने के लिए मैं मनुष्य–शरीर को धारण करूँगा। ब्रह्मसूत्र के ऊपर भाष्य रचने के लिए चार शिष्यों के साथ अवतार लूँगा।" जब जब धर्म की ग्लानि (न्हास) होती है तब तब यह 'कला' दूसरी अन्य अनेक सहायभूत कलाओं को साथ लेकर अवतार धारण करती है।

ज्ञान उपासना से बढ़ता है और उपासना बढ़ती है व्यवस्थित कर्म के अन्तराल से। अध्यात्म के अन्तर्गत इसी क्रम से ज्ञान का अरुणोदय प्रकट होता है अर्थात् ज्ञान के लिए उपासना और उपासना के लिए व्यवस्थित निष्काम कर्म की आवश्यकता है।

भगवान शंकर ने विष्णु और स्कन्द के प्रति देखकर संकेत किया कि आप प्रथमतः कर्म एवं उपासना के क्षेत्र को विकसित करो। कर्म इन्द्रियों से होता है। इन्द्रियजन्य कर्म अर्थात् घूमना, फिरना, लडाई झगडा, शाकभाजी लाना, पूजा–अर्चा–इत्यादि सभी कर्म ही हैं। इन सब में क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए–इसका विवेक होना अत्यावश्यक है। ये सर्व कर्म विवेकपूर्वक होने चाहिए–इसके लिए उनको व्यवस्थित रूप से रखने के लिए षडानन–स्कन्द–कार्तिकेय को निर्दिष्ट किया। अध्यात्म में उपयोगी होनेवाले कर्मों में आह्लाद उत्पन्न होने तक वे किस प्रकार किए

जाएँ– यह कार्यभार 'स्कन्द' के ऊपर आया। विधि, रीति, विहित-कर्म– सभी क्रमानुसार हों इसीलिए स्कन्द ने अवतार धारण किया- और यह अवतार हुआ कुमरिल भट्ट के रूप में।

इसके पश्चात् आई उपासना की श्रेणी, पतञ्जलि और कपिल आए। सांख्यशास्त्र कपिल ने दिया, गणना कर के संख्या के द्वारा तत्त्वज्ञान की समझ दी। लिंग देह क्या है ? प्रकृति क्या है? अहंकार क्या है ? तत्त्व क्या है ? इन सब को चुनचुन कर कपिल ने तत्त्व-ज्ञान का वोध कराया। सत्त्व, रजस् एवं तमस् की अवधारणा प्रस्तुत की। विचार किया कि उक्त तत्त्व गणना किस पर हो सकती है ? पुरुष के ऊपर तो नहीं बैठ सकती। यह सब कपिल ने बतलाया। शुद्ध उपासना की कला योग शास्त्र द्वारा पतञ्जलि ने दिखायी है। ध्यान, धारणा जैसे मार्ग की प्रस्थापना हुयी। कपिल भगवान् ने प्रकृति के चौबीस तत्त्व स्पष्ट किये हैं। यह गिनती यदि न की गयी होती तो तत्त्व–ज्ञान में गति प्राप्त न हुई होती। इसके पश्चात् ही अपने अलग अल्ग प्रकार के तत्त्वज्ञान सम्बन्धी विचार गतिमान होते गए हैं। अन्तःकरणशुद्धि का मार्ग और उसमें एकाग्रता प्राप्त करने का मार्ग पतञ्जलिने दर्शाया हैं। प्राणायाम, धारणा, ध्यान करके मूर्ति पर अवस्थित दृष्टि को अन्तर में बिठाने की रीति पतञ्जलि ने दिखायी है। वृत्ति को स्थूल में से मानस में ले जाने की रीति अर्थात् उसका क्रम क्या होना चाहिए यह दर्शाया हैं। चित्त-वृत्ति को शान्त करने के लिए धारणा, ध्यान जिस प्रकार करना चाहिए– वह सब, तथा बाह्यजगत् में से वृत्तियों को जिस प्रकार समेट लेना चाहिए– ऐसी समापत्ति के स्वरूप को पतञ्जलि ने अच्छी प्रकार समझाया है।

पूजा चलती हो तब चित्तवृत्ति मूर्ति में ही टिकी रहे, इसके लिए पूजा में विस्तार, प्रदर्शनी, दिखाबा आदि जो कुछ होता है; वह विघ्न रूप बन जाता है। बिजली से चालित चञ्चल दीप अन्त-राय उत्पन्न करते हैं। दिखावा नाटयशाला खडी करता है।

बालिश (मूर्ख) समाज बिजली की चमक में ही आनन्द लेता है। वस्तुतः यह नहीं होना चाहिए। वृत्ति को समेट लेने में सहायभूत बने ऐसी शोभा (पूजा) करनी चाहिए। यही है उपासना मार्ग की विशुद्धि।

इस प्रकार कर्म मार्ग की सच्ची रीति को न जाननें वालों के आगे विशुद्ध कर्म-मार्ग प्रस्तुत करने के लिए स्कन्द कुमारिल भट्ट के रूप में अवतरित हुए। वृत्ति की समापत्ति और उसका मार्ग पतञ्जलिने दिया। अब अन्तिम भाग, ज्ञानका कलश-स्थापन रहा, वह भगवान् शंकर ने अपने ऊपर ले लिया।

— क्रमशः श्री महेश दवे के सहयोग से

'हमेशा आन्तरिक अभीप्सा पर जोर दो; उसे हृदय में गंभीरता और स्थिरता पाने दो। हृदय के प्रेम और अभीप्सा के विकास के साथ साथ मन और प्राण की बाह्यवाधाएं अपने आप पीछे हट जाएंगी'

श्री अरविन्द

आधुनिक शिक्षा एवं योग

ले. : ज्ञानशंकर सहाय
शोधाधिकारी
दा. सा. विभाग, कैवल्यधाम
लोनावला (पूना)

आधुनिक शिक्षा में योग की भूमिका समझने के लिए प्रथमतः आधुनिक शिक्षा तथा योग--इनकी व्याख्या अपेक्षित है।

आधुनिक शिक्षा--इस सामासिक शब्द को भी पुनः दो भागोंमें विभक्त किया जासकता है--आधुनिक एवं शिक्षा।

आधुनिक शब्द का अर्थ, परिभाषा तथा सीमाएँ सदा समय, स्थान एवं स्थिति के अनुसार बदलती आयी हैं। जोभी आज आधुनिक है वह कल पुराना हो जाएगा और जो कुछभी आज पुरातन माना जाता है वह एक समय में आधुनिक ही था। अतः इस दृष्टिकोण से आधुनिक शब्द के लिए 'समसामयिक' यह शब्द अधिक समीचीन तथा स्पष्ट अर्थवत्ता को धारण किए हुए है।

दूसरा शब्द है--'शिक्षा'। शिक्षा का अर्थ है वह प्रक्रिया जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी उन्नति कर सके अथवा अपने को सुसंस्कृत बना सके। शिक्षा के लिए अंग्रेजी (Education) (एज्युकेशन) शब्द का निरुक्त्यात्मक अर्थ भी यही है--अर्थात् ऐसी प्रक्रिया जो मनुष्य को उसकी सम्पूर्ण संभावनाओं के साथ विकसित होने में सहायता कर सके। 'हम कैसे जीवन-यापन करें' यही हमारे लिए सबसे आवश्यक प्रश्न है। वह भी मात्र वस्तुपरक 'जीवन नहीं' वरन् जीवन--यापन

करने के सभी आयामों को अच्छी तरह समझते हुए तथा उनका अनुपालन करते हुए, जहाँ आदर्श की शुभ्र किरणें जीवन की दिव्यता को रूपायित कर रही हों। कैसे हम शरीर को सुदृढ बनाएँ ? कैसे अपने विचारों को उन्नत करें ? अपनी समस्याओं का समाधान कैसे करे ? हम कैसे प्रकृतिप्रदत्त सारी सुविधाओं का उपयोग करें ? अच्छे नागरिक के रूप मे कैसा व्यवहार करें ? कैसे अपनी योग्यता को स्वयं, समाज तथा देश के हित में उपयोग कर सकें ? तात्पर्य यह कि हम पूर्णता के साथ कैसे जिएँ ? चूँकि हमें यह सब जानने की अत्यधिक आवश्यकता है और अन्ततः शिक्षा अपने उद्देश्य रूपमें इसी का ज्ञान कराती है, अतः सच्ची शिक्षा का प्राथमिक उद्देश्य है–मस्तिष्क, हृदय तथा हाथों को ऐसी कला सिखाना जिसके द्वारा व्यक्ति सुखी एवं संयमित जीवन व्यतीत कर सके।

शिक्षा का आदर्श है ज्ञानप्राप्ति। शिक्षा के द्वारा प्राप्त ज्ञान भ्रम को दूर करता है, कठिनाइयों से मुक्ति दिलाता है तथा जीवन के सही मूल्य को परखने की योग्यता देता है। चूँकि ज्ञान शिक्षाका केन्द्र बिन्दु है–अतः यहाँ यह कह देना भी अनुपयुक्त अथवा अनावश्यक नहीं होगा कि प्राचीन समय में भारतीय मनीषियों ने मात्र पुस्तकीय ज्ञान को शिक्षा का उद्देश्य स्वीकार नहीं किया। यह स्पष्ट कहा गया है कि "शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खाः"–तात्पर्य यह कि किसीने भले ही ज्ञान की शाखा उपशाखाओं का अध्ययन कर लिया हो, फिर भी उसे अशिक्षित ही माना जाएगा यदि उसमें 'अन्तश्चक्षु' का विकास नहीं हुआ हो। अतएव शिक्षा ज्ञान प्राप्ति तथा शक्ति का एक ऐसा स्रोत है जो हमारे शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों के क्रमिक तथा सन्तुलित विकास के द्वारा हमारी प्रकृति को विकासोन्मुखी तथा उदात्त बनाता है।

किन्तु जब भी हम 'आधुनिक शिक्षा'–इस शब्द का प्रयोग करते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि 'शिक्षा' इस शब्द का सार अथवा उद्देश्य अपने मूल अर्थ से थोड़ा विचलित होगया है। संभव है–

ऐतिहासिक घंटनाओं के वहुआयामी प्रभाव के कारण ऐसा हुआ हो। दो महायुद्धों के साथ साथ आन्तरिक तनाव की तीव्रता एवं एवं सामाजिक, जातीय एवं आदर्शों के द्वन्द्व, जो २० वीं शताव्दी के देन हैं,–ने आज की शिक्षा को बहुत ही अधिक प्रभावित किया है। दो महायुद्धों ने युरोप की बडी शक्तियों के सैनिक तथा राजनीतिक वल को बडी क्षति पहुँचायी है। अफ्रीका और एशिया में तो करीब करीव सभी देश स्वतंत्र हो गए, जिसके परिणाम स्वरूप एक जो महत्वपूर्ण बात हुयी वह है 'शिक्षा का प्रचार एवं प्रसार। प्रयास तो हो रहे हैं, निरक्षरता को दूर करने के लिए–किन्तु अभी यह कहना कठिन है कि हम कितने सफल हुए हैं। समाजवादी तथा साम्यवादी सरकारों की कतिपय देशोंमें स्थापना के फलस्वरुप शिक्षा की मूलधारा में औद्योगिक क्रान्ति एवं मार्क्सवादी विचारधारा से अनुप्राणित नूतनता को सम्मिलित किया जाने लगा। इस प्रकार आधुनिक शिक्षा तथा विज्ञान सुलभ साधन-सम्पन्नता के सम्वध स्पष्ट से स्पष्टतर होते चले गए। भौतिक समृद्धि एवं उपयोगितावाद शिक्षा के उद्देश्यों में मुखर होने लगे।

इस सम्पूर्ण विवेचन का सार यह है कि 'शिक्षा'– इस शब्द का क्रमिक रूप से अर्थादेश हो गया है। साथ ही यह भी सत्य है कि इस अर्थादेश में सामाजिक एवं राजनीतिक कारण मूल घटक के रूप में कार्य करते रहे हैं।

अब हम 'योग' शब्द पर विचार करें तो कुछ कुछ यही स्थिति यहाँ भी दिखायी देगी। 'योग'– इस शब्द के अर्थ को बहु प्रकार से समझा गया है और यही कारण है कि इसकी अनेकानेक परिभाषाएँ प्रचलित हैं। उपनिषदपूर्व वेदों एवं ब्राह्मणों के समय में 'योग' शब्द का अर्थ था 'दो बैलों का बाँधना' (Yoking) यद्यपि इस शब्द का प्रचलन उस समय बहुतायत में नहीं पाया जाता है किन्तु उपर्युक्त 'अर्थ विशेष' में इसका प्रयोग मिलता अवश्य है। क्रमिक रूप से इसके अर्थ में परिवर्तन आया और औपनिषद युग में इस शब्द से

'इन्द्रियों के निरोध' रूप अर्थ लिया जाने लगा। 'पातञ्जल योग' में वर्णित आठअंगों का संकेत तो उपनिषद में मिलता है किन्तु वे उसी क्रम में उपनिषदों में उपलब्ध नहीं हैं जिसक्रम में वे पातञ्जल योग में उद्धृत हुए हैं।

योग भारतीय षडदर्शनों में से एक है। सभी भारतीय दर्शन मुक्ति तथा मुक्ति के मार्ग की चर्चा अपने अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन के साथ करते हैं। मुक्ति के मार्ग का प्रतिपादन चरम सत्य का अनुभव या दर्शन करने की दिशा में एक प्रयास है। पातञ्जल योग ने भी मुक्ति को चरम उपलब्धि स्वीकार किया तथा उसे प्राप्त करने के लिए विभिन्न उपायों का भी निर्देश किया है यथा:– अभ्यास, वैराग्य, चित्त–प्रसादन, क्रिया–योग, अष्टांगयोग (अर्थात् समाधि जो साध्य एवं साधन दोनों ही हैं) ये सारे अभ्यास शारीरिक कम तथा मानसिक अथवा मन:शारीरिक अधिक हैं। आसन, जो बाह्यरूप से शारीरिक प्रतीत होता है वह भी वास्तव में मन:शारीरिक ही है। पतञ्जलि के आसन की परिभाषा में स्थिरता, सुखता अथवा अनन्तसमापत्ति ऐसी अवस्थाएँ हैं जो हमारे मन से साक्षात् सम्बन्धित हैं।

पतञ्जलि का दर्शन अथवा अभ्यास सूत्रों में उपलब्ध है और उनके सूत्रों पर बहुत से व्याख्याकारों ने अपने अपने तरीके से व्याख्याएँ कीं, किन्तु कोई भी दो व्याख्याकार एकमत नहीं हो सके। चूंकि सूत्र गागर में सागर के समान छोटे होते हुए भी अर्थगाम्भीर्य से पूर्ण रहते हैं, अत: पतञ्जलि निर्दिष्ट अभ्यासों को कोई भी योग-साधक बिना योग्य गुरु की सहायता के प्रारम्भ नहीं कर सकता है। इसका कारण अर्थगाम्भीर्य लिए हुए सूत्रों की दुरुहता ही है। अभ्यासप्रक्रिया भी स्पष्ट उल्लिखित नहीं हैं। कदाचित ये ही हठ-यौगिक अभ्यासों के प्रचलन एवं प्रसार के कारण बने हों।

हठ योग की प्राचीनता का आकलन असाध्य नहीं पर कठिन अवश्य है। यह कहना भी कठिन है कि पतञ्जलि के समय हठयोग

था या नहीं। महर्षि पतञ्जलिने अपने योग सूत्र में कहीं भी हठयोग की चर्चातक नहीं की जिससे एकमत यह बनता है कि पतञ्जलि के समय में हठयोग का प्रचार प्रसार नहीं था। साथ ही दूसरी ओर हठयौगिक आसनों की कुछ मूर्तियाँ मिली हैं जिन्हें इतिहासकारोंने प्रागैतिहासिक युग का सिद्ध किया है। इससे यह मत पुष्ट होता है कि हठयोग पतञ्जलि से बहुत पहले भी अपनी चरम प्रसिद्धि पर था। जो भी हो किन्तु यह निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जा चुका है कि हठयोग के अभ्यासों को सर्वप्रथम बुद्ध के तान्त्रिक सम्प्रदायवालों ने स्वीकृति दी थी। कालक्रम से हठयोग एक स्वतन्त्र सम्पूर्ण सम्प्रदाय के रुप में स्वीकार किया जाने लगा जिसके द्वारा मनुष्य योग के चरमलक्ष्य को प्राप्तकर सकता था। हठप्रदीपिका के लेखकने हठयोग को राजयोग के पूरक के रूप में स्वीकार किया है। हठयोगपरम्परा में कहीं भी यम नियम की चर्चा नहीं मिलती है। अतः संभव है कि बाद में यमों एवं नियमों का महत्त्व सामान्यतः स्वीकार कर लिया गया था और उसे अलग से कहने की आवश्यता नहीं रह गयी थी। स्वात्माराम ने अपनी हठप्रदीपिका में हठयोग के मात्र चार अंगों को स्वीकार किया है– आसन, प्राणायाम, मुद्रा एवं नादानुसन्धान।

हठयोग में प्रयुक्त 'हठ' का भी एक विशिष्ट अर्थ है–

"हकारः कथितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते।
सूर्यचन्द्रमसोर्योगात् हठयोगो निगद्यते ॥

'ह' एवं 'ठ' क्रमशः सूर्य एवं चन्द्र का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन दोनों में सन्तुलन एवं पश्चात् नियन्त्रण प्राप्त करना ही हठयोग कहलाता है। यही कारण है कि हठयोग में प्राणायाम को एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है। स्वात्मारामने इसी अभ्यास का नाम कुम्भक रखा, क्यों कि पूरी प्राणायाम प्रक्रिया में कुम्भक का एक विशिष्ट स्थान है। इस समय की एक विशिष्टता यह भी रही कि रोगोपचार के दृष्टिकोण से भी आसन एवं प्राणायाम का महत्व बताया गया। यथा–

'हरति सकल रोगानाशु गुल्मोदरादीन्
जनयति जठराग्नि - - - - - - -'

कुम्भकों के वर्णन के समय यह भी निर्देश दिया गया है कि इनके अभ्यास के द्वारा कुछ रोगों का उपचार किया जा सकता है– यथा सूर्यभेदन कुम्भक के प्रसंग में–

'कपालशोधनं वातदोषघ्नं कृमिदोषहृत्'

अथवा 'उज्जायी कुम्भक' के प्रसंग में–

'नाडीजलोदराधातुगतदोषविनाशनम्'

इसके द्वारा यह अनुमान तो लगाया ही जा सकता है कि इन अभ्यासों के चिकित्सात्मक पहलू को भी स्वीकार किया जा चुका था।

इसके अतिरिक्त हठयोगिक अभ्यास में षटक्रिया का निरूपण– चिकित्सा के क्षेत्र में हठयोग की देन मानी जा सकती है। हठ-प्रदीपिका में स्पष्टरूप से कहा गया है कि कुम्भकों के अभ्यास के पूर्व इन षटक्रियाओं का अभ्यास उनके लिए आवश्यक है जिन्हें मेद और श्लेष्म की अधिकता हो। तत्पर्य यह कि षटक्रियाओं से 'शरीर-क्रिया' सम्बन्धी दोषों को दूर किया जा सकता है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि षटक्रियाओं के चिकित्सात्मक मूल्य भी हैं।

इस प्रकार मध्ययुग में हठयोग एक ऐंसी साधना प्रक्रिया थी जो प्रथमतः शरीर के द्वारा मन को योग्य बनाता है और साधक के लिए ऐसी भूमि तैयार करता है जिसके द्वारा वह चरम लक्ष्य को प्राप्त-कर सके। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि हठयोग के रूप में आकर भी योग ने अपनें मूल उद्देश्य को नहीं खोया।

आधुनिक काल में योग को एक विशिष्ट दृष्टिकोण से देखा जा रहा है। इसका एक कारण सम्भव है समय और समाज की मांग।

भारत में योग के लिए यह एक पुनर्जागरण का काल था। १९ वीं शताब्दी के अन्त और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक समय में यहाँ के नेताओं में अपनी संस्कृति के प्रचार एवं प्रसार की भावना उमड़ पडी थी, जिसके द्वारा वे जनमानस में देशभक्ति की चेतना लाना चाह रहे थे। अन्यान्य सांस्कृतिक धरोहर के समान हठयोग को भी महत्त्व दिया जाने लगा किन्तु इसके आध्यात्मिक पहलू की तुलना में शारीरिक पहलू को अधिक महत्त्व मिला। हठयोग के अभ्यासो को अन्य व्यायामों के पूरक के रूप में लिया जाने लगा जो मनुष्य को स्वस्थ रख सकने में सहायक हो गया।

"स्वस्थ रहें–" (Keep fit) व्यायाम दो प्रकार के हैं, वे हैं– 'आइसोटोनिक' एवं 'आइसोमेट्रिक', किन्तु इसके अलावा एक अन्य प्रक्रिया भी है जिसके द्वारा लयवद्ध तरीके से सम्पूर्ण शरीर को स्वस्थ रखा जा सकता है और वह है हठयोग में उपलब्ध शारीरिक अभ्यास। हठयोग के आसनों के अभ्यास शारीरिक एवं मानसिक विश्राम एवं शांन्ति प्रदान करते हैं जो व्यायामों की मूल कल्पना 'श्रमाधिक्य' के विपरीत है। इनमें से कुछ आसन तो स्थिर स्वभाव के हैं और उनकी उपयोगिता उस आसन स्थिति को कुछ देर तक बनाए रखने पर निर्भर करती है, किन्तु ऐसे भी आसन हैं जिनमें अनवरत पूरे शरीर में अथवा उसके कुछ भाग में हल–चल होते रहने की संभावना है। ऐसे आसन 'अस्थिर' स्वभाववाले माने जा सकते हैं। श्वसन का भी हठयोग में बहुत महत्त्व है। श्वसन के विशिष्ट अभ्यास के द्वारा श्वसनसंस्थान के सभी अवयवों का सम्पूर्ण उपयोग ही इसका उद्देश्य है, जिसके फलस्वरूप इसकी कार्य क्षमता बढ़ती है तथा क्रमिक रूप से श्वसन पर नियन्त्रण प्राप्त करने में भी सहायक होती है। आसनों द्वारा अनुभवी योग साधक शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य तो प्राप्त करता ही है साथ ही मांसपेशियों में लचीलापन, उचित शारीरिक सौष्ठव तथा स्वस्थ मानसिक स्थिति को भी प्राप्त करता है। उन लोगों के लिये तो योग एक

सर्वोत्तम अभ्यास प्रक्रिया है जो सम्पूर्ण स्वास्थ्य की कल्पना करते हैं और जिन्हें मात्र शारीरिक शक्ति का विकास ही अभिलषित नहीं है।

१९२४ में संस्थापित कैवल्यधाम संस्थान ने अपने वैज्ञानिक अनुसंधान द्वारा इसी बात को सिद्ध करने का प्रयास किया।

आधुनिक काल में, विशेषतः २० वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में योग के आध्यात्मिक पहलू के अलावा तीन पहलुओं पर विशेष बल दिया गया।

१. योग – एक चिकित्सापद्धति के रूप में।
२. योग – एक व्यायामपद्धति के रूप में।
३. योग – शिक्षा के एक अंग के रूप में।

जहाँ तक योग के आध्यात्मिक महत्व की बात है तो वह सुतरां सिद्ध ही है। स्वात्माराम ने अपनी 'हठप्रदीपिका' में बडे ही स्पष्ट शब्दों में डिण्डिमघोष किया है –

पीठानि कुम्भकाश्चित्रा दिव्यानि करणानि च।
सर्वाण्यपि हठाभ्यासे राजयोगफलावधि ॥

ह. प्र. १–७७.

इसी तरह इसके आध्यात्मिक पहलू को निरवच्छिन्न रूप से स्वीकार किया जा चुका है अतः सम्प्रति योग के उपरि निर्दिष्ट पहलुओं पर विचार कर लेना सुसंगत होगा।

१. योग– एक चिकित्सा पद्धति के रूप में:–

आज सम्भवतः योग के इस पहलू को सर्वाधिक महत्त्व दिया जा रहा है। सन्देह नहीं कि प्राचीन ऋषियोंने भी योग की चिकित्सा-

त्मक महत्ता को स्वीकार किया था किन्तु उनका दृष्टिकोण आज से भिन्न था। आसनों अथवा प्राणायामों के चिकित्सात्मक लाभ का निर्देश महज उसकी उपयोगिता अथवा महत्व को दर्शाने के लिये किया जाता था। यह सोचना भी गलत होगा कि मात्र चिकित्सा के दृष्टिकोण से आसन अथवा प्राणायाम का विधान किया गया। यदि ऐसा होता तो शायद स्वस्थ शरीरवालों के लिये आसन अथवा प्राणायाम के अभ्यास की आवश्यकता ही नहीं रहती, जब कि ऐसी बात न थी, और न है।

किन्तु आजकल आसन और प्राणायाम जैसे यौगिक अभ्यास सिर्फ कुछ रोंगो से छुटकारा पाने के उपाय मात्र बन कर रह गए। आज आध्यात्मिक विकास के लिये इसकी उपयोगिता गौण सी हो गयी है। आधुनिक जींवन की जटिलताओं के कारण मनःशारीरिक (Phycho-Somatic) रोगों की अधिकता हो गयी है और ऐसी स्थिति में योग चिकित्सा को सर्वाधिक उपयोगी माना जाने लगा है क्यों कि ऐसा पाया गया है कि मनःशारीरिक रोगों की चिकित्सा योग के द्वारा अधिक सफलतापूर्वक की जा सकती है। आधुनिक काल में इस सन्दर्भ में स्वनामधन्य स्वामी कुवलयानन्दजी का नाम लिया जा सकता है जिन्होंने सर्वप्रथम योग की चिकित्सात्मक उपयोगिता को वैज्ञानिक तरीके से सामान्य जन के सम्मुख लाने का प्रशंसनीय कार्य किया। 'बायो फीडबैक मीटर' जैसे यन्त्र इसी उद्देश्य के लिए बनाए गए। विदेशी भी योगिक अभ्यास के चिकित्सात्मक लाभ को देख कर ही इसकी ओर झुके हैं।

२. योग–एक व्यायाम पद्धति के रूप में :–

आजकल योगिक अभ्यास विशेषतः आसनों एवं प्राणायामों को अन्य व्यायाम के पूरक के रूप मे देखा जा रहा है। इसे आधुनिक योग शिक्षकों की देन मानी जा सकती है जिन्होंने इन के अभ्यासों का सामान्य व्यायाम पद्धति के रूप में प्रचार किया और आध्यात्मिक महत्ता को प्रचारित नहीं किया। इस प्रकार यौगिक आसनों का

अवमूल्यन जैसा हो गया। व्यायाम के रूप में योग के अभ्यास के दो रूप मिलते हैं– सामूहिक और व्यक्तिगत। विद्यालयों अथवा महाविद्यालयों में इसका सामूहिक रूप मिलता है जहां यह 'ड्रिल' के समकक्ष ही माना जाता है।

३. योग–शिक्षा के अंग के रूपमें–

संभव है योग का यह पहलू अन्यन्त प्राचीन रहा हो, किन्तु यह अत्यन्त आधुनिक भी है। सम्प्रति बहुत सारे विद्यालयों में अनिवार्य रूप से योग शिक्षण प्रारम्भ हो चुका है। बहुत सारे योग–शिक्षकों की नियुक्ति भी केन्द्रीय विद्यालयों में हुयी है ताकि यौगिक जीवन पद्धति का प्रचार हो सके, किन्तु यह कहना कठिन है कि योगशिक्षक इस सन्दर्भ में कितने सफल हुए।

इस प्रकार इन तीन पहलुओं के अलावा जो चौथा पहलू और सम्भवत: सबसे महत्वपूर्ण पहलू, जिसे इस योग में देखा जा रहा है– वह है–इसके द्वारा धनोपार्जन की सम्भावना। लोग किसी मान्यता-प्राप्त संस्थान से योग प्रशिक्षण का प्रमाणपत्र प्राप्त करने के लिए उतावले हैं ताकि वे लोगों को आसन प्राणायाम सिखा कर मुद्रा–अर्जन कर सकें। १९८० से १९८५ तक के मध्य योग अध्ययन का प्रचार नौकरी प्राप्त करने के दृष्टिकोण से बहुत अधिक हुआ। बेकारी की समस्या से परेशान युवकों को इसमें राहत की एक किरण दिखायी पडी। इस प्रकार योग ने 'मुद्रा एवं नौकरी' इन दोनो ही समस्याओं को सुलझाने का प्रयास अपने तरीके से किया।

उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश में यह कहा जा सकता है–कि योग के प्रति लोगों का दृष्टिकोण क्रमिक रूप से परिवर्तित होता गया। योग मोक्ष मात्र के लिए साधना या अभ्यास–क्रिया न रह कर शारीरिक व्यायाम और धनोपार्जन का माध्यम तक हो गया। इस इस प्रकार निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार 'शिक्षा' शब्द का अर्थादेश हुआ उसी प्रकार योग का भी अर्थादेश हुआ।

आज के शिक्षाविदो ने आधुनिक शिक्षा के 'कमी पक्ष' का अनुभव किया एवं साथ ही इस सन्दर्भ में योग के महत्व तथा उसकी उपयोगिता को भी पहचाना तथा यह आशा व्यक्त की कि यदि योग का आधुनिक शिक्षा के साथ समन्वय कर लिया जाए तो आधुनिक शिक्षा में आयी कमी को दूर किया जा सकता है। निश्चय ही शिक्षाविदोंने जब योग को आधुनिक शिक्षा में लाने की बात सोची होगी तो उनके मानस पटल पर भले ही योग की आध्यात्मिक छवि न हो किन्तु इसकी शारीरिक, नैतिक तथा मानसिक महत्ता की छवि तो अवश्य ही रही होगी। मात्र 'शारीरिक गुण' देख कर वे योग की ओर आर्कषित नही हुए होंगे। इसी कारण मुझे लगता है कि योग का आधुनिक शिक्षा में समन्वय के लिए कोई न कोई मध्यम मार्ग अपनाना पडेगा। इसके लिए आधुनिक शिक्षा का अपने स्तर से ऊँचा उठना पडेगा ताकि, यह मात्र 'साधन–सम्पन्नता' का जरिया न रहे। और इसी प्रकार यह भी मानना पडेगा कि योग यदि मात्र आध्यात्मिकता के लिये नहीं है तो वह मात्र शारीरिक व्यायाम भी नहीं है। यदि हम इन वातों को अच्छी तरह समझ लें तो आधुनिक शिक्षा में योग का समन्वय किया जा सकता है।

न युज्यमानया भक्त्या, भगवत्यखिलात्मनि।
सदृशोऽस्ति शिवः पन्था योगिनां ब्रह्मसिद्धये।।

श्रीमद्भागवत् ।३।२५–१९

(अखिलात्मा (परमात्मा) भगवान् की नैष्ठिक भक्ति के समान ब्रह्मसिद्धि हेतु योगसाधकों के लिए अन्य कोई कल्याणकारी मार्ग नहीं है।)

(बोध कथा)

यह सच या वह सच

श्रीमती साधना दौनेरिया
एम. ए. डी. वाई. एड.

'मिथिला नरेश महाराज जनक अपने राजभवन में शयन कर रहे थे। निद्रा में उन्होंने एक अद्‌भुत स्वप्न देखा–

मिथिला पर किसी शत्रु नरेश ने आक्रमण कर दिया है। उसकी अपार सेना ने नगर को घेर लिया है। उसके साथ तुमुल संग्राम छिड़ गया। मिथिला की सेना पराजित हो गयी। महाराज जनक बंदी हुये। विजयी शत्रु ने आज्ञा दी– 'मैं तुम्हारे प्राण नहीं लेता, किन्तु अपने सब वस्त्राभरण उतार दो और इस राज्य से निकल जाओ।' उस नरेश नें घोषणा करा दी– 'जनक को जो आश्रय देगा, उसे प्राणदण्ड दिया जायेगा।'

राजा जनक ने वस्त्राभूषण उतार दिये। वे केवल एक छोटा वस्त्र कटि में लपेटे राजभवन से निकल पडे। पैदल ही उन्हें राज्य सीमा से बाहर तक जाना पड़ा। प्राण-भय से कोई उनसे बोलता तक न था। चलते–चलते पैरों में छाले पड गये। वृक्षों के नीचे सो जायँ या भूखे सो रहें। कोई अपने द्वारपर तो उनके खड़ा होने में भी डरता था। कई दिनों तक अन्न का एक दाना भी उनके पेट में नहीं गया।

जनक जी अब राजा नहीं थे। धूल से धूसरित शरीर, बिखरे केश, क्षुधा पिपासा से अत्यन्त व्याकुल वे एक भिक्षुक-जैसे थे। राज्य से बाहर एक नगर मिला। पता लगा कि वहाँ कोई अन्न-क्षेत्र है और उसमें भूखों को खिचड़ी बाँटी जाती है। बडी आशा से जनक वहाँ पहुँचे, किंतु खिचडी बँट चुकी थी। अब बाँटनेवाला द्वार बंद करने जा रहा था। भूख से चक्कर खाकर जनक जी वहाँ बैठ गये और उनकी आँखों से आँसू बहने लगे। अन्न बाँटने वाले कर्मचारी को इनकी दशा पर दया आ गयी। उसने कहा– 'खिचडी तो है नहीं, किन्तु बर्तन में उसकी कुछ खुरचन लगी है। कहो तो वह तुम्हें दे दूं। उसमें जल जाने की गंध तो आ रही है।'

जनक जी को तो यही वरदान जान पड़ा। उन्होंने दोनों हाथ फैला दिये। कर्मचारी ने जली हुयी खिचडी की खुरचन उनके हाथ पर रख दी, किंतु इसी समय एक चील नें झपट्टा मार दिया। उनके पंजे लगने से जनकजी का हाथ ऐसा हिला कि सारी खुरचन कीचड़ में गिर पडी। मारे व्यथा के जनकजी चिल्ला पडे।

यहाँ तक तो स्वप्न था, किंतु निद्रा में जनकजी सचमुच चिल्ला पडे थे। चिल्लाने से उनकी निद्रा तो टूट ही गयी। रानियाँ सेवक-सेविकाएँ दौड़ आयीं उनके पास– 'महाराज को क्या हो गया'?

महाराज जनक अब चारों ओर आँख फाड़ फाड़कर देखते हैं। वे अपने सुसज्जित शयन-कक्ष में स्वर्णरत्नों के पलंग पर दुग्धफेन सी कोमल शय्या पर लेटे हैं। उन्हें भूख तो है ही नहीं। रानियाँ पास खडी हैं। सेवक सेविकाएँ सेवा में प्रस्तुत हैं। वे अब भी मिथिला नरेश हैं। यह सब देखकर जनकजी बोले– 'यह सच या वह सच?'

रानियाँ चिन्तित हो गयीं। मन्त्रियों की व्याकुलता बढ़ गयी। महाराज जनक लगता था कि पागल हो गये हैं। वे न किसी से कुछ कहते थे, न किसी के प्रश्न का कुछ उत्तर देते थे। उनके सम्मुख जो भी जाता था, उससे वे एक ही प्रश्न करते थे–

'यह सच या वह सच? '

चिकित्सक आये, मन्त्रज्ञ आये और भी न जाने कौन–कौन आये, किंतु महाराज की दशा में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। अचानक ही एक दिन ऋषि अष्टावक्रजी आये। उन्होंने मन्त्रियों को आश्वासन दिया और वे महाराज जनक के समीप पहुँचे। जनकजी ने उनसे भी वही प्रश्न किया। योगिराज अष्टावक्रजी ने ध्यान करके प्रश्न के कारण का पता लगा लिया।

अष्टावक्रजी ने पूछा– 'महाराज ! जब आप कटि में एक वस्त्र खण्ड लपेटे अन्न–क्षेत्र के द्वार पर भिक्षुक के वेश में दोंनों हाथ फैलाये खडे थे और आपकी हथेली पर खिचडी की जली खुरचन रखी गयी थी, उस समय यह राजभवन, आपका यह राजवेश, ये रानियाँ. राजमन्त्री, सेवक–सेविकाएँ थी?

महाराज जनक अब बोले– 'भगवन्! ये कोई उस समय नहीं थे। उस समय तो विपत्ति का मारा मैं एकाकी क्षुधित भिक्षुक मात्र था।' अष्टावक्रजी ने फिर पूछा– 'और राजन् ! जागने पर जब आप इस राजवेश में राजभवन में पलंग पर आसीन थे, तब वह अन्नक्षेत्र, उसका वह कर्मचारी, आपका वह कंगाल वेश, वह जली खिचडी की खुरचन और आपकी वह क्षुधा थी ?

महाराज जनक– 'भगवन्! बिलकुल नहीं, वह कुछ भी न था।'

अष्टावक्र– 'राजन्! जो एक काल में रहे और दूसरे काल में न रहे, वह सत्य नहीं होता। आपके जाग्रत में इस समय वह स्वप्न की अवस्था नहीं हैं। इसीलिये वह सच नहीं और स्वप्न के समय यह अवस्था नहीं थी, इसलिये भी सच नहीं। न यह सच न वह सच।'

जनक– 'भगवन्! तब सच क्या है।'

अष्टावक्र– 'राजन्! जब आप भूखे अन्नक्षेत्र के द्वार पर हाथ फैलाये खडे थे, तब वहाँ आप तो थे न ? '

जनक– 'भगवन्! मैं तो वहाँ था । '

अष्टावक्र– 'और राजन्! इस राजभवन में इस समय आप हैं?'
जनक– 'भगवन्! मैं तो यहाँ हूँ । '

अष्टावक्र– 'राजन् ! जाग्रत में, स्वप्न में और सुषुप्ति के साक्षी-रूप में भी आप रहते हैं । अवस्थाएँ बदलती हैं, किन्तु उनमें उन अवस्थाओं को देखनेवाले आप नहीं बदलते । आप तो उन सबमें रहते हैं । अतः केवल आत्मा एवं परमात्मा ही सत्य हैं । '

♣ ♣ ♣

"आत्मौपम्येन सर्वत्र, समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमोमतः । "

गीता ६ । ३२

'जो अपने आत्मा के समान ही सब के सुख दुःख को समानरूप से देखता है, अर्जुन ! वही श्रेष्ठ योगी माना गया है । "

ऋतम्भरा–पाठकीय दृष्टि में

दिनांक ९/९/८८

आदरणीय श्री ओम्प्रकाशजी तिवारी,

सादर नमस्कार ।

आपके द्वारा भेजी गई "ऋतम्भरा" पत्रिका के प्रथम दो अंक प्राप्त हुये । इसके लिये धन्यवाद ।

कैवल्यधाम, लोनावला द्वारा "ऋतम्भरा" योग की त्रैमासिक पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ हो गया, देखकर अत्यन्त हर्ष हुआ । वास्तव में हिन्दी में इस प्रकार की पत्रिका का प्रकाशन कैवल्यधाम से बहुत पूर्व से अपेक्षित था । वह चिर प्रतीक्षा पूर्ण हुई ।

पत्रिका के लेखों के शीर्षकों को देखा । उपयोगी एवं आकर्षक लगे । प्रयोग एवं अनुसंधान के अनुभवों एवं तथ्यों को भी इसमें दिया जा सके तो अच्छा रहेगा ।

शिक्षा और योग का अन्योन्य सम्बन्ध है । ये एक दूसरे के पर्याय हैं अतः पत्रिका में इस विषय को प्रधानता से उभारा जाय, यह मेरा विनम्र सुझाव है, इसकी आज शिक्षा के क्षेत्र में अतीव आवश्यकता हैं ।

लज्जाराम तोमर
संगठन मन्त्री
विद्या भारती अखिल भारतीय
शिक्षा संस्थान

दिनांक १५/७/८८

प्रिय तिवारी जी, नमस्ते !

सद्य प्रकाशित "ऋतम्भरा" की प्रथम, द्वितीय दोनों संख्याएं मिली । अत्यन्त हर्ष हुआ ।

हठयोग–राजयोग साधन–प्रक्रियाओं का वैज्ञानिक अनुसन्धान व निष्कर्ष प्रतिपादनार्थं कैवल्यधाम संस्था ब्रह्मलीन स्वामी कुवलयानंद जी महाराज की अमूल्य देन है । आप लोग सब उनके अनन्य भक्त–समुदाय संस्था के आदर्श उद्देश्य को मूर्तरूप देने में दत्त–चित्त, भारत तथा विश्व के योग प्रेमियों के लिये प्रेरणा स्रोत स्वरूप हैं ।

अंग्रेजी में "योगमीमांसा" योगिक क्रियाओं के वैज्ञानिक मूल्यांकन का आधार स्तंभ स्वरूप है । किन्तु साधारणतया हिन्दी भाषी जन समुदाय संस्था के वैज्ञानिक मूल्यांकन के ज्ञान से वंचित प्राय थे । "ऋतंभरा" वह अभाव पूर्ण करेगी," आशा करता हूँ ।

"त्रैमासिकी" का कलेवर विषयवस्तु आकर्षक, अध्ययन एवं मन्थनानुकूल है । परम मंगलमय प्रभु से प्रार्थना है कि कैवल्यधाम परिवार के सब सदस्यों के सम्मिलित प्रयास से "ऋतम्भरा" सारगर्मित लेखनियों के द्वारा अपार जनसमुदाय को योग मार्ग की ओर आर्कषित करती रहेगी ।

शुभ कामनाओं के साथ,

(स्वामी आनन्दानंद)
योगसाधना आश्रम,
बापूनगर, जयपुर ३०२००४
(राजस्थान)

दिनांक १३/७/८८

प्रिय श्री तिवारीजी,

"ऋतम्भरा" के दो अंक प्राप्त हुए। 'कैवल्यधाम' ने राष्ट्र-भाषा हिन्दी में पत्रिका प्रकाशित कर 'योग' के व्यापक प्रचार का साधन प्रस्तुत किया है। दोनों अंकों की सामग्री ज्ञानवर्धक है।

घाणेकर जी स्वामी कुवलयानन्द जी द्वारा लिखित 'आसन' पुस्तक के महत्त्वपूर्ण अंशों का हिन्दी में रूपान्तर कर रहे हैं, इससे हिन्दी पाठकों को स्वामीजी के विचारों से अवगत होनें का अवसर मिलेगा।

स्वामी दिगम्बरजी की 'शंकर विजय' लेखमाला भी ज्ञान-वर्धक है।

आपने 'ऋतम्भरा' का प्रकाशन कर 'योग' के शास्त्रीय तथा व्यावहारिक पक्ष को हिन्दी जनता के लिए सुलभ करानें का जो उपक्रम किया है, इसके लिए धन्यवाद।

आपका
विनय मोहन शर्मा,
एम. आई. जी.–७,
अरेरा कॉलोनी,
भोपाल–१६

दिनांक २९/६/८८

आदरणीय तिवारी जी,

सादर स्नेहाभिवादन !

"ऋतभरा" अपने वाल्य कालमें ही पूर्ण सौष्ठव के साथ अवतरित हुई है। आगे चल कर यह हिन्दी–भाषियों के लिए कैवल्य-मार्ग की ओर ले जाने में अवश्य पूर्ण समर्थ होगी। यह प्रकाशन जनता के लिए अत्यन्त कल्याणकारी होगा।" धन्यवाद !

आपका ही
डा० आर. पी. पाण्डेय,
निराला नगर,
बिलासपुर (मध्य प्रदेश) ४९५००१

ॐ नमः सर्वान्तर्याभिणे ।

आचार-विचार

ले० स्वा० दिगम्बरजी
अनुवादक- श्री महेश दवे

'आचार'- इसका अभिप्राय है- 'बाह्य व्यवहार' और 'विचार' इससे अभिप्रेत है- 'आन्तरिक व्यवहार' । 'चर्' धातु से निष्पन्न दोनों शब्द अपने अपने उपसर्गो के साथ उक्त अर्थ को लिए हुए हैं। बाह्य व्यवहार शरीर से होता है जो प्रतिबिम्ब होने के कारण स्वतन्त्र नहीं है । आन्तरिक व्यवहार ही बाहर प्रत्याघात के रूप में व्यक्त होता है । इसलिए अन्दर का व्यवहार ही मुख्य है । मन की वृत्तियाँ उसी के अन्तर्गत उठती हैं । वह उसका क्षेत्र है । वह उसी के अन्तर्गत उठता, बैठता और दौड़ता है। शान्त और अशान्त बनता है । मन जिसके आधार पर सौम्य, घोर और मूढ़ बनता है- उसी का नाम चित्त है । उक्त वृत्तियों का मूल हेतु यही है । यह चित्त त्रिगुणात्मक है जो त्रिगुणात्मिका प्रकृति का आदिकार्य बन कर सभी व्यक्तियों में पाया जाता है ।

प्रसवशीला प्रकृति चैतत्य के संपर्क में आकर सदैव प्रसवशीला बनी रहती है । इससे चित्त त्रिगुणों के संपर्क में आकर सौम्य या घोर बनता रहता है । अतः चित्त के अन्तर्गत सत्त्वगुण की कला का प्रभाव बढ़ता रहे- उसके लिए पुरुषार्थ करना आवश्यक है । उसके पश्चात् आचार, अपने आप बिना कुछ कहे सीधा होता जाएगा । प्राचीन महात्माओंने और अनुगामी सन्तोंने ऐसा ही पुरुषार्थ किया था, इसी का ही उपदेश दिया था । वे उसमें सफल हुए थे । जिन्हों ने, इस प्रकार के मुख्य पुरुषार्थ के प्रति ध्यान नहीं दिया, वे पीछे रह गए, विफल हो गए "येऽत्यायन् ते पराबभूवुः" ।

यह पत्रिका मुद्रक, प्रकाशक एवं अधिकारी श्री, ओमप्रकाश तिवारीजी ने योगमीमांसा प्रेस, कैवल्यधाम लोणावळा में मुद्रित करके प्रकाशित की।

"ऋतम्भरा स्यादमृतत्ववर्षिणी"

ऋतम्भरा

अक्टूबर १९८८

वर्ष १ अंक ४

कैवल्यधाम, लोणावला ४१० ४०३, पुणे
महाराष्ट्र (भारत)

वेदामृतम्

अभयं मित्रादभयममित्रा-
दभयं ज्ञातादभयं पुरो यः ।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः,
सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ।।

अथर्ववेद १९.१५.६.

"(मित्रात् अभयं, अमित्रात् अभयं) मुझे मित्र से भय न हो, अमित्र से भी भय न रहे, (ज्ञातात् अभयं), जो मालुम हो गया है उससे भय न हो और (यः पुरः अभयं) जो आगे है, आनेवाला है उससे भी भय न हो। (नः नक्तं अभयं, दिवा अभयं) हमें रात में भी अभय हो दिन में भी अभय हो, (सर्वा आशाः) सब दिशायें सब दिशाओं के वासी प्राणी (मम मित्रं भवन्तु) मेरे मित्र हो जायें, मेरे मित्र रूप रहें।"

"सत्यं परं धीमहि"

ऋतम्भरा

(योग की त्रैमासिक पत्रिका)

अक्टूबर १९८८

वर्ष १ 卐 अंक ४

कैवल्यधाम लोणावला
पुणे (महाराष्ट्र)
४१० ४०३

आजीवन ग्राहक शुल्क—रु० ५००/-
वार्षिक ग्राहक शुल्क—रु० २०/-
एक प्रति—रु० ५/-

: विषयानुक्रम :

'ऋतम्भरा' में प्रकाशित लेख सामग्री के लिए
लेखक स्वयं उत्तरदायी हैं।

ॐ

सम्पादकीय

०० 'ऋतम्भरा' का चतुर्थ अंक आपके हाथ में है। विलम्ब के लिए क्षमा करें। हम अपनी सीमाओं से बंधे हैं। प्रयत्न यही है कि मार्ग की विवशताएँ हमारा मार्ग अवरुद्ध न करें।

०० भारत सरकार ने केन्द्रीय विद्यालयसंगठन में पुनः यह निर्णय लिया है कि योग के शिक्षक योग के पूर्णरूपेण शिक्षक ही रहेंगे, शारीरिक शिक्षा के शिक्षक नहीं। यह बड़ा ही प्रशंसनीय निर्णय है। हम हृदय से सम्बन्धित अधिकारियों के आभारी हैं।

०० 'ऋतम्भरा' के प्रथम अंक में हमने इसकी चर्चा विस्तार में की थी। 'योग की दृष्टि से यह अहितकारी होगा'– यह हमारा विचार था। चलो, "देर से ही सही" "उचित" को अपना स्थान मिल गया।

०० योग-शिक्षकों के भी अपने दायित्व हैं। उन्हें कभी भी यह नहीं समझना चाहिए कि वे पैसे के लिए ही केवल योग–शिक्षक का कार्य कर रहे हैं। इससे उद्देश्य की हानि होगी। योगशिक्षा विद्यालयों में अपने शैशवकाल में है। हमें यह समझना है कि योग का उचित प्रसार हमारा मुख्य ध्येय है। राष्ट्र के भावी नागरिकों में राष्ट्रप्रेम, सर्वधर्मसमभाव, सहयोग व समता का भाव योग का अंग है। अतः हम स्वयं में एक उदाहरण बन कर आगे आयें। अन्यथा योग–शिक्षा की जड़ पर कुठाराघात होगा व हम इस त्रुटि के लिए कभी भी क्षमा के पात्र नहीं बन सकेंगे।

ओम प्रकाश तिवारी

ऋतम्

"मा त्वा मूरा अविष्यवो मोपहस्वान् आ दमन् ।
माकीं ब्रह्मद्विषो वनः ॥

ऋग्वेद. ८-४५. २३, अ. २०. २२. २.

(हे मेरे मन! (त्वा) तुझको (मूराः) मूढ़ (अविष्यवः) अपनी सुरक्षा की कामना करने वाले स्वार्थीजन (मा दमन्) नष्ट न करें। न दबा दें ।(उपहस्वानः) उपहास करने वाले लोग भी (मा)न दबा दें । तू (ब्रह्मद्विषः) ज्ञान व परमेश्वर से द्वेष करते वाले मनुष्यों का (माकीं वनः) सेवन मत कर । उनकी संगति मत कर ।)

अभिप्रेत यह है कि हे मन ! जब कभी तू आत्मसंस्कार के लिये अग्रसर होता है, तो संसार की अनेक विरोधिनी शक्तियाँ तेरे मार्ग को रोक कर खडी हो जाती हैं । तुझे आगे बढ़ने नहीं देतीं । जब तू आत्मोत्थान के लिए संस्कार के मार्ग का अवलम्बन करेगा तो कई अज्ञानी मूढ़ लोग अकारण तेरा विरोध करेंगे, तेरी निन्दा करेंगे। जिन लोगों के स्वार्थ में उस सुधारक द्वारा धक्का लगने का काल्पनिक भय होगा 'अविष्यु' (अपनी रक्षा चाहने वाले) स्वार्थ ग्रस्त पुरुष तेरे मार्ग में बाधा उपस्थित करेंगे, चुगली करेंगे, । भ्रम फैलायेंगे और तुझे नाना प्रकार के कष्ट देंगे । पर हे मन । तू इनसे न घबराना, न डरना । अन्त में तू विजयी होगा ! उपहास, निन्दा-स्तुति, तीक्ष्ण व्यंगों तथा सूक्ष्मरूप में चलने वाली कूटनीतिक चालों से हतोत्साहित मत होना । अनुद्विग्न और प्रसन्न चित्तसे इन सब को सह लेना । जो ब्रह्मद्वेषी, ज्ञानद्वेषी हैं उनकी उपेक्षा करता हुआ आगे बढ़ता जा । उनकी संगति मत कर । अविरोधी रहकर किन्तु दूसरों के विरोध को न मानता हुआ अपने ध्येय की ओर निरन्तर अग्रसर बना रह । ऐसा करने से तू अनावश्यक संघर्ष से वचेगा और तुझे स्वयं को दृढ़ करने का निर्बाध अवसर मिलेगा ।

सम्पादक

आसन-परिचय

ले. पूज्यस्वामी कुवलयानन्दजी

(पाठको की अपेक्षा को ध्यान में रखते हुए इस अंक से उन विशिष्ट आसनों का परिचय एकैकशः दिया जा रहा है जिनका निरूपण पू. स्वामी कुवलयानन्दजी ने अपने सुदीर्घ अध्ययन, अभ्यास एवं अनुभव के आधार पर अपनी 'आसन' नामक पुस्तक में किया है। मूलतः स्वामीजी के विचार 'अंग्रेजी' में होने के कारण हिन्दी भाषा-भाषी उनसे अपरिचित्त थे। अतः उनका हिन्दी रूपान्तर 'ऋतम्भरा' में उपलब्ध कराया जा रहा है। आशा है उत्सुक जनों को अपेक्षित लाभ मिलेगा। पिछले अंको में प्रकाशित स्वामीजी की आसन सम्बन्धी अवधारणाओं से पाठक परिचित ही होंगे। उन्होंने आसनों का विभाजन सुविधा की दृष्टि से दो रूपों में किया है- ध्यान-धारणात्मक आसन एवं (२) शरीरसंवर्धनात्मक आसन। प्रारम्भ ध्यानात्मक आसनों से किया जा रहा है। इन आसनों के अभ्यास के पूर्व दृष्टियों एवं वन्धों का परिज्ञान होना अत्यावश्यक है। अतः आसनों की भूमिका स्वरूप इन्हीं का परिचय सर्वप्रथम क्रमशः दिया जा रहा है)

सम्पादक

दो दृष्टियाँ और तीन वन्ध ध्यानधारणोपयोगी आसनों की विधि का अंग हैं। हम प्रारम्भ में इन दृष्टियों (नासाग्र एवं भ्रूमध्य दृष्टि) और बन्धों(मूलबन्ध, जालन्धरबन्ध एवं उड्डियानवन्ध) के विवरण इस विचार से देते हैं कि हमारे पाठक बिना किसी बाधा के उत्पन्न हुए आसनों की विधि ठीक प्रकार से समझ सकें।

नासाग्र दृष्टि (Nasal Gaze)

नासा के अग्र पर दोनों आंखों की दृष्टि को स्थिर करना 'नासाग्रदृष्टि' कहलाती है। इसका अभ्यास पद्मासन के साथ या उसके बिना स्वतन्त्र रुप से किया जा सकता है।

चञ्चल मन को निश्चल (स्थिर) करने के लिए नासाग्र दृष्टि' एक उत्तम अभ्यास है। यदि लगन से कुछ महीनों तक इसका निरन्तर अभ्यास किया जावे तो अशान्त एवं चञ्चल मन शान्त एव स्थिर हो जाता है और उस पर हितकारी प्रभाव पडता है। यह अनुभूत प्रयोग है।

सावधानी :– नासाग्रदृष्टि दृष्टिनाडियों (ऑप्टिकल नर्वस) द्वारा मस्तिष्क पर प्रभाव डालती हैं। अतःप्रत्येक को इसका अभ्यास धीरे धीरे और सावधानी से करना चाहिये। जिनकी दृष्टिनाडियाँ कमजोर है उन्हें नेत्र चिकत्सक अथवा योग विशेषज्ञों की देखभाल के बिना इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए।

भ्रूमध्यदृष्टि

आँखों की दृष्टि दोनों भ्रुकुटियों (भौहों) के बीच स्थिर करना 'भ्रूमध्यदृष्टि' कहलाती है। इसका अभ्यास आगे निरूपित किए जाने वाले सिद्धासन के साथ या उसके बिना स्वतन्त्रतया किया जा सकता है।

विशेषः– नासाग्र दृष्टि के समान यह दृप्टि भी चंचल मन की स्थिरता के लिए एक उत्तम अभ्यास है। उसी के समान मस्तिष्क पर प्रभाव डालने वाली है। अतः इसका अभ्यास उसी सावधानी के साथ किया जाना चाहिए।

क्रमशः
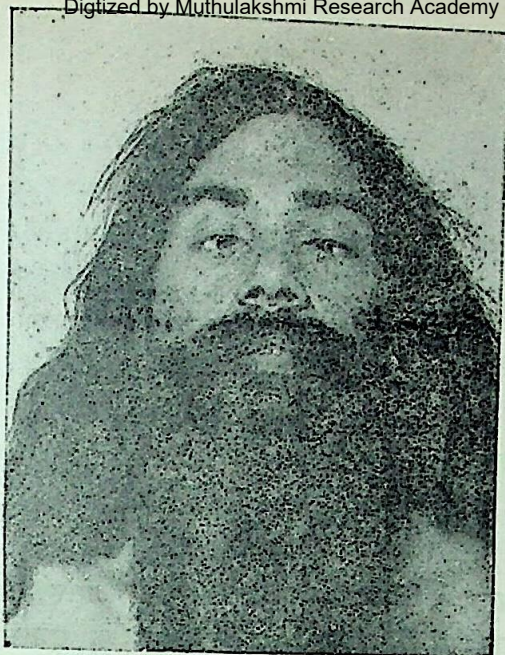
(नासाग्र दृष्टि)
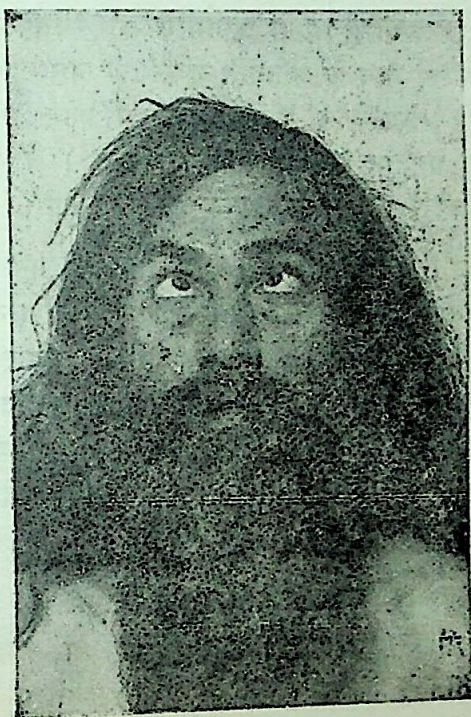
(भ्रूमध्य दृष्टि)

गताङ्क से आगे–

शंकर विजय

ले. स्वामी दिगम्बरजी

अनु. आचार्य रामरत्न शास्त्री एम. ए.

ब्रह्मा से लेकर समस्त लोग जिसके लिए स्फुलिंग के समान है, ऐसे काल भगवान् ही समस्त घटनाचक्र के सूत्रधार हैं। जब कभी देवतागण असमंजस या आपत्ति में पड़ जाते हैं तब वे कैलाश या क्षीर सागर–इन स्थानों पर जाकर शंकर अथवा विष्णु की शरण ग्रहण करते हैं। यहाँ ज्ञानमार्ग को स्थापित करने की मांग थी, इसलिये ज्ञान के अधिपति शंकर के पास देवगण पहुँचे देवताओं में से 'स्कंद' और 'शेष' को मुख्य कार्य भाग स्थापित करने के लिए भगवान् शंकर से आदेश मिला। वे कुमारिलभट्ट एवं पतंजलि का रुप लेकर भूलोक में अवतरित हुए।

पुत्र-प्राप्ति के लिए गोनर्ध प्रदेश में कोई एक ऋषिकन्या तपश्चर्या करती थी। अर्घ्य देते समय एक बार पानी से भरी अंजलि में से गिरा हुआ वह 'पतञ्जलि' नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसी समय आकाशवाणी हुयी "भगवान् सूर्य ने यह पुत्र दिया है, यह महान ऋषि होगा"। पतंजलि मुनि के लिये यह आख्यायिका प्रचलित है। इस अवतार से उपासना मार्ग में शुद्धि आयी और योगमार्ग की पुनः सम्यक् स्थापना हुयी।

इसी प्रकार कर्मकाण्ड में शुद्धि लाने के लिये स्कन्द कुमारिल भट्ट के रूप में अवतरित हुए। 'अब ये शुद्ध कर्म एवं उपासना के मार्ग सुरक्षित भी रहने चाहिए–इस लिए इन्द्र राजा

सुधन्वा के रुप में अवतरित हुए। ये सुधन्वा कौन थे ? इनकी वंश परम्परा में उतरने की अवश्यकता नहीं। कारण, यह चर्चा ऐतिहासिक दृष्टि की नहीं है। प्राचीन प्रणालिका की रीतिसे, प्राचीन पद्धति से जो वर्णन हुआ है, वह सब आख्यायिका के रुप में है और वे काल्पनिक लगती हुयी भी वस्तुतत्त्व तक पहुँचाने के कारण स्वीकार्य हैं। महत्त्व अर्थवाद का है।

ज्ञान कलश चढ़ाने के लिये शंकरावतार हुआ। उसके पहले यह भूमिका उक्तरीत्या तैयार हुयी। ज्ञानकाण्ड की प्रस्थापना हेतु यह पूर्व पीठिका बनी। देव देवताओं ने भी अपनी अपनी यथा शक्ति सहयोगात्मक भूमिका निभायी।

भौतिक में दिखायी देने वाली ऐसी प्रवृत्ति जब आती है, तब उसे 'आन्दोलन' 'क्रान्ति'-ऐसे नामों से जाना जाता है, ज्ञानेश्वर, तुकाराम की प्रवृत्ति से इस्लामी संस्कृति का प्रतिरोध हुआ। तो क्या इस प्रवृत्ति को आन्दोलन समझा जाए ? उत्तर भारत में सन्त तुलसीदास प्रभृति अन्य सन्तमहात्माओं द्वारा धर्म रक्षा की प्रवृत्ति हुई,–तो क्या उसे आन्दोलन कहेंगे ?

आध्यात्मिक क्षेत्र के अन्तर्गत 'क्रान्ति' शब्द के लिए स्थान नहीं है। एक राजा दूसरे राजा को गिराने की प्रवृति में रहता है। अध्यात्म में दूसरे के अभिभव अथवा गिराने की प्रवृत्ति नहीं रहती। अध्यत्म प्रवृत्ति को आन्दोलन–क्रान्ति जैसे शब्दों से व्यक्त करना ठीक नहीं लगता। आन्दोलन किंवा क्रान्ति में "मैं" का भाव अधिक रहता है। कुछ आग्रह भी इसी प्रकार का होता है। अध्यत्म में ऐसा कुछ नहीं होता। गाँवों में जाकर अपनी बुद्धि से प्रयुक्त व्यवस्थाशक्ति के द्वारा वहाँ जो नहीं था, वह करके दिखाया और जो हो रहा है या हुआ है, वह सब अच्छा ही है– ऐसा सोच समझकर लोग उसमें सम्मिलित होते जाते हैं। इसी को 'आन्दोलन' नाम मिला। वह सब ठीक है। अज्ञानता, अस्वच्छता, ग़रीबी के लिए होने वाले कार्य में

कार्यकर्ता जिस कल्पना को लेकर जाता है वह सारी कल्पना सामने वाले पक्ष में नहीं है– ऐसा ज्ञानाभिमान क्रान्ति या आन्दोलन का स्वरूप धारण करता है। कुछ लोगों को सुधार करने का एक धन्धा हाथ लग जाता है। मानों इस प्रकार के क्षेत्र को खोजने वालों को अपना क्षेत्र मिल गया। जैसे कोई दुकान डालनी है तो दुकान के लिए स्थान मिल गया हो। प्रचलित लोक सेवा ऐसा ही एक क्षेत्र है। ज्ञान देने की बात तो आती है किन्तु ज्ञान, सही अर्थों में, देने की कोई वस्तु नहीं है। ज्ञान लेने की वस्तु है।

अध्यात्म में इस प्रकार का नहीं है। रामायण की रचना वाल्मीकि ने की, पश्चात् तुलसीदास जी ने की, परन्तु आरम्भ में ही निवेदन कर दिया कि 'यह रघुनाथ-गाथा 'स्वान्तःसुखाय'- अर्थात् अपनी सुख-शान्ति से लिए लिखी गयी किन्तु इनके पश्चात् अनेक रामायण लिखी गयीं किन्तु अमरत्व तो इन्हीं ऋषि एवं सन्त के काव्यों को प्राप्त हुआ है। आज इन दोनों के नाम लोकजिह्वा से उतरते ही नहीं हैं। इन काव्यों का आज भी श्रद्धा से पारायण होता है।

लोगों को सुधारने का अथवा बुरे को अच्छा बनाने का भाव अध्यात्म में जरासा भी नहीं है। 'सब कुछ रखदेना'– यही अध्यात्म का बिन्दु है। चतुर धूर्त लोग उसको बढ़ा–चढ़ाकर लोगों को दिखाते फिरते हैं। किन्तु तुकाराम, ज्ञानदेव ने तो ऐसा किया नहीं। दुनियाँ अपने रास्ते ओर वे अपने रास्ते। उन्होंने दुनियाँ की कुछ भी परवाह नहीं की है। त्रिगुणात्मक दृष्टि ही नहीं। वस 'परमात्मा'– यही एक भाव। दूसरे सब का अभाव। रामायण के रचयिताओं ने एम. ए. कोर्स की अथवा महामहोपाध्याय की पदवी की अपेक्षा करके रचना नहीं की थी। अपनी वृत्तिओं को एकत्रित करके अन्तराकाश में श्री रघुनाथ का जो साक्षात्कार किया–उसी को कविताबद्ध किया है "स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथाम्–"

कहते हैं कि संगीतशास्त्र ऋषियो ने गोपियों के रुदन में से प्राप्त किया था। तो क्या गोपियों ने कोई 'क्लास' चालू किये थे? अरे' कृष्णदर्शन की लालसा रखनेवाली गोपियो ने भी तो ऐसा सस्वर, तालवद्ध गान किया कि सब कुछ संगीतमय हो गया और ऋषियों ने उसमें से संगीत खींच लिया, क्योंकि उसमें परमात्मा का भाव भरा पूरा था।

आज हमारे दिमाग में 'पॉलिटिक्स' नाम से बहुत वड़ा बिन्दु पड़गया है। परिणामस्वरूप विसंवादी अर्थ उत्पन्न होते हैं। आन्दोलन शव्द व्यवहार में चल सकता है किन्तु अध्यात्म में उसके लिए अवकाश नहीं है। ऊपर जैसा कहा गया है कि देवगण भी ज्ञान काण्ड की स्थापना के मार्ग में अपनी अपनी पद्धति से जुट गए। अपनी लौकिक भाषा में कहें तो– 'सहकार करने के लिए उपस्थित हुए।' क्या भगवान् को भी सहकार की आवश्यकता होती है? एक निमेष मात्र में सृष्टि को हिला देने की जिनमें क्षमता है, वे क्या ऐसे सहकार के बिना कुछ नहीं कर सकते? किन्तु इस प्रकार बोलने की एक प्राचीन प्रणाली है। देव की देव कक्षा अपनी कक्षा से ऊपर की है। किन्तु इससे भी ऊपर की कक्षा अमर्त्य भाव में जाने की है और इस अमर्त्य ऊपर की कक्षा, अमर्त्य भाव में जाने के लिए देव भी उत्सुक रहते हैं। इसीलिए परमात्मा का कुछ कार्य हो और उसमें वे मिल जाएँ, तो कृत्यकृत्य हो जाते हैं– ऐसी यह सहकार या सेवा के पीछे की भावना है।

रामावतार में जाएगे तो वर्णन मिलता है कि देवगण उस रास्ते में ऋषि मुनियों का रूप धारण करके बैठ गए जिस रास्ते से वे गुजरने वाले हैं। सभी अपनी अपनी पद्धति से भगवान् की सेवा करते हैं। जड़ सृष्टि में पत्थर और मिट्टी के रूप में भी बैठ गए ताकि भगवान् के चरणों के स्पर्श का लाभ मिले। पशु, पक्षी-ऐसे अनेक रूप लिए। नल, नील, जाम्बुवान, हनुमान, सुग्रीव को भगवान् मिले। उसके पहले उन्हें कौन पहचानता था? भगवान् से

मिलने के पश्चात् ही उनकी महिमा बढी। बढी नहीं, भगवान् ने बढाई। लंका जाने के लिए पुल बांधना है, नल नील पुल बांधने के लिए उपस्थित हैं। इस वृत्तान्त के पीछे महत्त्व की बात यह है कि ऐसे उन्नत जीवात्माओं की महिमा भगवान ने स्वयं इसी रीति से बढायी और उनको यशोभागी बनाया। अन्यथा आज उनको कौन याद करता ? कौन उनकी आख्यायिका गाता ?

कृष्णावतार में भी इसी प्रकार की बातें आती है। देवों ने अनेकों रूप धारण करके प्रभु-सेवा की है। किसी ने गाय, बछडा, गोप, गोपी, बगुला, पशुपक्षी और वनस्पति का रूप भी लिया। भगवान् की वेणु बन कर उनके होंठों पर लग जाना भी सौभाग्य है कृत्यकृत्य हो जाना है। गोकुल, वृन्दावन, जड़-चेतन आदिका यशोगान इन्हीं के कारण है, नहीं तो कौन गानेवाला था उनके यशोगान ?

ज्ञान का ज्ञानत्व और सरस्वती की दीप्ति नवल तभी होती है यदि उसे भगवान् के काम में लाया जाए 'वे भी ज्ञानकाण्ड के अन्दर ज्ञान यज्ञ में उपस्थित हुए अवतरित हुए, उभय भारती रूप से। पिता का कुल तो विद्वत्ताप्रचुर था ही और ससुराल भी ऐसी ही मिली। भारती अर्थात् शारदाका अवतार। मण्डन मिश्र के साथ शादी हुयी। विद्वत्ताप्रचुर कुल होने से ही नाम मिला 'उभयभारती'। विदाई के समय पितृपक्ष की ओर से ससुराल वालों को निवेदन किया गया कि कन्या ने अभी तक पढाई में ही समय व्यतीत किया है इसलिये गृह कार्य में यदि अकुशलता दिखायी दे, तो उसे संभाल लें। इस प्रकार देवताओं ने भगवान शंकर की सेवा के लिए अवतार लिये।

सुधन्वा राजा कुमारिल भट्ट की प्रतोक्षा करते हैं। पण्डितों की सभा प्रतिदिन होती है। किसी दिन कुमारिल आ पहुँचेगा, इसी आशा में प्रतीक्षा करते हैं।

कुमारिलभट्ट का अध्ययन बुद्धकुल में हुआ, क्या करें ? जिसका प्राबल्य होता है, वही होता है । आज भी वही होता है । अंग्रेज गये, फिर भी अंग्रेजी की महत्ता उतनी ही वनी रही, है और इस महत्ता की ओर आकृष्ट जनों की सन्तान कॉन्वेण्ट में अभ्यास करते हैं । उस काल में बौद्धमत की छाप वहुत प्रभावशालिनी थी और उसे ग्रहण करने में गौरव माना जाता था । बौद्ध विहार में मिलने वाले शिक्षण में तो वैदिक मार्गका खण्डन ही हुआ । 'कान्वेण्ट' स्कूल में गीता की बात चलती है तो वाईविल को उससे बढ़कर माना जाता है । तर्क है कि यदि शिक्षा अच्छी है तो गीता को भले ही निम्न दर्जा दिया जाय, क्या फर्क पडता है ? इस प्रकार मन बहलाने वाले क्या आज नहीं हैं ? निश्चय ही उस काल में वौद्ध शिक्षण की कक्षा उच्च मानी जाती थी । उनका पूर्व पक्ष कुमारिल के मन मे बैठा नहीं । युक्तिवाद (तर्क) से उन्होंने पूर्वपक्ष में जाने की सोची युक्तिवाद तो वादी-प्रतिवादी दोनों पक्षों में काम आता है । एक ही वकील, वादी-यदि अधिक धन देता है तो उसकी ओरसे बोलता है और यदि प्रतिवादी अधिक पैसा देता है तो उसकी ओर से भी उसके पक्ष की वकालत करता है । शास्त्रों का अध्ययन उसे और भी तीक्ष्ण बना देता है । शंका-कुशंका निवारण करने के लिए अध्ययन से तीक्ष्ण की हुयी बुद्धि ही काम में आती है । पर, इस धार के उपयोग हेतु मुद्दा हाथ लगे तभी तो उपयोग हो । अतः वैदिक संस्कारों को कुमारिल ने अलग रख दिया था और बौद्धपक्ष के खण्डन में उन्हीं के तर्कों का उपयोग करते थे ।

कुमारिल सुधन्वा राजा की सभा में पहुँचे, उसके पूर्व की बात है । बुद्धविहार में वैदिक मार्ग की निन्दासे कुमारिल को क्षुब्ध देखकर कुमारिल की हत्या की कोशिश की गयी । पहाड पर से धकेल दिया, फिर भी बच गये । इस घटना में एक आँख गयी और पैर में चोट आयी । इस प्रकार की आख्यायिका है कि कुमारिल को प्रतिपक्ष की ओर से बहुत कष्ट सहन करना पडा । आखिर में वे जीत गए । राजा सुधन्वा की सभा में जब कुमारिल आए तभी का

प्रसंग है। सामने एक अशोक वृक्ष में कोयल बोलने लगी, कुमारिल नें इस अवसर का लाभ उठाया और अन्योक्ति द्वारा बोल पडे--

" मलिनैश्चेन्न संगस्ते नीचैःकाककुलैः पिक !।
श्रुतिदूषणनिर्ह्रादैः श्लाघनीयस्तदा भवेः ॥ "

' हे कोकिल ; तेरा गान तो मधुर है किन्तु तेरा संग तो नीच के साथ है। कौवों के साथ तेरा संग नहीं हुआ होता तो तेरी पूजा होती, प्रशंसा होती । "

इस श्लोक में श्रुति शब्द आता है। श्रुति अर्थात् वेद। इस अर्थ के रूप में सुधन्वा को संबोधित करते हुए सूचित किया गया है– " हे राजन् ! यदि वेद को दूषण देने वालों के सम्पर्क में न आया होता, तो तेरी बहुत प्रशंसा होती । वेद विरुद्ध पण्डित लोग कौवे के रूप में हैं। उनके बीच में तू (राजा) बैठा है। यदि ऐसा न हुआ होता, तो तेरी प्रशंसा की कोई सीमा नहीं रहती ।" बस हो गया, जिनको उक्ति लगनी थी, लग गयी और फल स्वरूप विवाद बढ़ गया। इस प्रकार अन्योक्ति का जो परिणाम आना था, वह आ गया। बौद्ध पण्डितजन हार गए। तत्पश्चात् अन्तिम निर्णय के लिये, जैसे सीता जी ने अग्निपरीक्षा दी थी, वैसे ही कुमारिलभट्ट को भी प्रतिपक्ष के समक्ष परीक्षा देनी पडी। प्रतिपक्षियों ने एक मटके में जहरीले नाग रखकर पूछा– 'उसमें क्या है ? यदि उत्तर सही मिल गया तो वे जीत गए, उनका पक्ष सही है, अन्यथा हार गए।' कुमारिल ने उत्तर दिया 'उसमें शेष भगवान् की मूर्ति है। तो सव बोलनें लगे– 'गलत है, गलत है।' जव खोला गया तो शेषशायी भगवान् की ही प्रतिमा उसमें से निकल आयी। चमत्कार हो गया, कुमारिलभट्ट सच्चे सिद्ध हुए। विरोधी उनको मानने लगे।

सेवा के भाव से सुधन्वा के रूप में अवतरित हुए इन्द्र। सुप्त कला देदीप्यमान हो गयी। ठीक उसी प्रकार जैसे हनुमान् के

रूप में शंकर का अवतार । दण्डकारण्य में भगवान् जहाँ तक आये नहीं थे, वहाँ तक वह कला सुप्त पडी थी । दण्डकारण्य में भगवान् के आगमन से वह देदीप्यमान हो गयी । निमित्तमात्र थी - सुग्रीव-मैत्री । यहाँ पर इन्द्र ने शंकर की सेवा के लिये सुधन्वा के रूप में अवतार लिया है । राज्याश्रय देने की इच्छा जाग्रत हुयी । इस वैदिक मार्ग को राज्याश्रय मिल गया । संरक्षण मिल गया । ऐसा महान् कार्य कुमारिलभट्टने कर दिया ।

शंकर भगवान् को लगा - अव वहुत हो गयी विशुद्धि । अव तो शरीर धारण करके अवतरित होने का समय आ गया है । प्रश्न हुआ– ' यह आविर्भाव कहाँ हो ?

(सावशेष)

अहंममभिमानोत्यैः कामलोभादिभिर्मलैः ।
वीतं यदा मनःशुद्धमदुःखमसुखं समम् ।।

श्रीमद्भागत्–३।२५।१६

काम, क्रोध, लोभ आदि मानसिक मलों के द्वारा ही 'मै हूँ' और यह ,मरा है ?'– इस प्रकार के अहंकार का भाव उदित होता है । इने मनो मलों से मुक्त होने पर चित्त शुद्ध हो जाता है, तब इसके लिए दुःखसुख समाप्त होकर सब समान हो जाते हैं

चतुर्व्यूहवाद के परिप्रेक्ष्य में–पातंजलयोगः एक अध्ययन

डॉ. बी. आर. शर्मा

शोधधिकारी, दार्शनिक साहित्य–
अनुसन्धान विभाग, कैवल्यधाम,
लोनावला.

संसार में प्रत्येक प्राणी अपने जीवन की रक्षा के लिए यतमान है। जिन में मनुष्येतर प्राणी अपनी सहजप्रवृत्ति से परिचालित निरूद्देश्य जीवन यापन करता है, किन्तु मनुष्य की सदैव आनन्दमय बने रहने की इच्छा उस की मूलप्रवृत्ति होने के कारण वह प्रतिदिन के व्यावहारिक जीवन में आने वाले अनेकविध दुःखों से पीडित हुआ सोचता हैं कि 'मै कौन हूँ ?' 'यह जगत् क्या है?' 'इस सजीव निर्जीव जगत् का मूल क्या है?' 'मेरे जीवन का लक्ष्य क्या है?' 'संसार में दुःखों से छुटकारा कैसे संभव है?' इत्यादि अनेक प्रकार के प्रश्न युगयुगान्तरसे उस के विमर्शात्मक चिन्तन का कारण बनते रहे हैं जिस के फलस्वरूप विभिन्न प्रकार के विज्ञान एवं दार्शनिक विचारधाराओं का प्रादुर्भाव हुआ। योगदर्शन भी इसी विचारशृंखला का एक परिणाम है।

मनुष्य स्वभावसे ही विचारशील प्राणी है। वह तब तक किसी कथ्य को स्वीकार नहीं करता जब तक वह उसे किसी ऐसी वैज्ञानिक पद्धति की कसौटी पर कसकर परख नहीं लेता जो सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक हो, क्योंकि खरे खोटे की पहचान का सर्वोत्तम आधार वह विज्ञान को ही मानता है। भारतीय दार्शनिकों ने मनुष्य

जाति के कल्याण के लिए उसी वैज्ञानिक पद्धति के आधारपर अपने विचारों एवं अनुभवों को अभिव्यक्त किया है। भारतीय दर्शनशास्त्र में इस पद्धति को चतुर्व्यूह नाम से उद्धृत किया है। चतुर्व्यूह शब्द का व्युत्पत्यर्थ भी इसी तथ्य का प्रतीक है। 'चतुर्' शब्द सार्वनामिक विशेषण चार का वाचक है, व्यूह शब्द वि उपसर्ग पूर्वक ऊह् विचारणे धातु से घञ् प्रत्यय से बना है। जिसका अर्थ है विशिष्ट प्रकार की संरचना या विन्यास। इस प्रणाली के चार मुख्य अंग है – हेय, हेयहेतु, हान एवं हानोपाय।

हेय – अर्थात् त्याज्य क्या है? संसार में दुःख का वरण कोई नहीं करना चाहता। इसलिए दुःख को हेय कोटि में रखा है।

हेयहेतु – दुःख है तो उसका कारण अवश्य होगा, इसलिए द्वितीय व्यूह को हेयहेतु की संज्ञा दी है।

हान – अर्थात् दुःख रहित अवस्था क्या है? जिसे हान की संज्ञा दी है।

हानोपाय – उस दुःखरहित अवस्था को प्राप्त करने के साधन क्या हैं ?

इस विचारधारा का प्रवाह मानवीय सृष्टि के प्रारम्भ से ही होता आया है। जिसका एकरूप बुद्ध के चार आर्यसत्यों के रूप में प्रस्फुटित हुआ है। जिन्हें क्रमशः दुःख, दुःखसमुदय दुःखनिरोध एवं दुःखनिरोध के अष्टमग उपाय। उनकी मान्यता है कि इन चार आर्यसत्यों के सम्यग्ज्ञान से मनुष्य दुःखों से छुटकारा प्राप्त कर सकता हैं।

यद्यपि योगसूत्रकार महर्षि पतंजलि ने अपने सूत्रग्रन्थ में चतुर्व्यूहशब्द का प्रयोग नहीं किया, परन्तु इस चतुर्व्यूहात्मक पद्धति के चार आधारभूत स्तम्भों की स्पष्ट रूप से चर्चा की है। जिस का स्पष्ट उल्लेख भाष्यकार व्यास ने किया है – "जिस प्रकार चिकि

त्साशास्त्र में रोग, रोग का कारण, आरोग्य एवं आरोग्यहेतु भैषज्य रूप चार व्यूह हैं, उसी प्रकार योगशास्त्र में संसार, संसार का कारण, मोक्ष एवं मोक्षोपाय रूप चतुर्व्यूहात्मक पद्धति का प्रतिपादन किया है"। यहाँ संसारका अभिप्राय दुःख ही है, क्योंकि संसार दुःखों से परिपूर्ण है। अतः दुःख रूप ही है। उपर्युक्त चार व्यूहों के परिप्रेक्ष्य में योग दर्शन को समझने की जिज्ञासा ही इस शोधप्रबन्ध का उद्देश्य है।

हेय अर्थात् त्याज्य क्या है ? महर्षि पतंजलि ने 'हेयं दुःख-मनागतम्' (यो. सू. II/16) सूत्र से दुःख के स्वरूप पर प्रकाश डाला हैं। सूत्र में आए दुःख एवं अनागत पद विचारणीय है। दुःख का सामान्य अर्थ है – अरूचिकर या पीडाकर। अरूचि या पीडा के अनेक प्रकार हो सकते है। भाष्यकार ने विक्षेपों के संदर्भ में (यो. सू. I/31) में आए दुःख के तीन प्रकारों का उल्लेख किया है जो अन्यत्र भी प्रसिद्ध हैं। शरीर एवं मन के कारण से उत्पन्न दुःख आध्यात्मिक दुःख कहे जाते हैं। उन में शारीरिक दुःख वे दुःख हैं जो वात, पित्त एवं कफ आदि की विषमता के कारण ज्वर अतिसारादि के रूप में होते हैं। मनोनिष्ठ कामक्रोध, लोभमोहादि के कारण से होनेवाले दुःख मानसिकदुःख कहे जाते हैं। सर्प, बिच्छु, चोर एवं व्याघ्र आदि प्राणियों से प्राप्त दुःख आधिभौतिक दुःख कहे जाते हैं तथा इन्द्रादि देवों द्वारा वज्रपात ग्रहपीडा, अतिवृष्टि आदि के कारण उत्पन्न दुःख आधिभौतिक दुःख कहे गये हैं। इस प्रकार के अनेकविध दुःखोंसे पीडित मनुष्य सांसारिक उपायों के माध्यम से उन दुःखों से छुटकारा प्राप्त करना अपना ध्येय समझने लगता है, किन्तु उन उपायों से प्राप्त सुख भी उस के दुःख का ही कारण बनता है। महर्षि पतंजलि ने (यो. सू. II/15।) बडी सूक्ष्मता से सांसारिक विषय सुख को दुःखरूप सिद्ध करने के लिए चार हेतु उपन्यस्त किए हैं।

परिणाम दुःख – विषयसुख के अनुभव से उस विषय के प्रति राग होना स्वाभाविक है। जहाँ राग होगा वहां द्वेष, मोह एवं हिंसा

१. यथा चिकित्साशास्त्र चतुर्व्यूहम् रोगो, रोगहेतुरारोग्यं भेषज्य-मिति। एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहमेव। तद्यथा–संसारः, संसारहेतु, मोक्षो मोक्षोपाय एवेति (व्या. भा. II/15)

आदि निश्चित रुप से रहेंगे ही । यह राग चेतन (स्त्रीपुत्रादि) एवं अचेतन (गृहादि) साधनों के अधीन होता है । जिस से रागज कर्माशय उत्पन्न होते हैं तथा परिणाम में असंख्य दुःखों का कारण वनते हैं ।

तापदुःख–विषयसुख के साधनों में जो वाधाएँ आती हैं उस से द्वेषज-कर्माशय उत्पन्न होते हैं । मनुष्य सांसारिक सुखोपलब्धि हेतु मन एवं वचन से चेष्टा करते हैं । दूसरों पर अनुग्रह करते हैं या उन्हें पीडा देते हैं । इस प्रकार परानुग्रह एवं परपीडा द्वारा धर्म–अधर्म रूप कर्माशयों का ही संचय होता है जो अनेकविध दुःखों कें कारण वनते हैं ।

संस्कारदुःख– यह सर्वविदित है कि अनुभव से संस्कार बनते है तथा उन्हीं संस्कारों के आधार पर स्मृति उत्पन्न होती है । अतः सुखानुभव से सुखसंस्काराशय एवं दुःखानुभव से दुःखसंस्काराशयों का संचय होना भी स्वाभाविक है तथा उन्हीं के आधार पर सुखदुःखात्मक स्मृति भी दुःख का ही कारण बनती है ।

गुणवृत्तिविरोध– गुणों के अर्थात् सत्व, रज एवं तम के परस्पर विरोधी स्वभाव के फल स्वरूप इन गुणों का क्रमशः सुख, दुःख एवं विषादरूप में परिवर्तित होना नैसर्गिक है । यही गुण सभी प्रकार के दुःखों के कारण हैं । जिन के आधार पर मनुष्य निजकर्मोपार्जित सुख दुःख को प्राप्त करता है, भोग करता है एवं भोगकर फिर प्राप्त करता है तथा अनेकविध दुःखों से पीडित रहता है । अतः पतंजलि ने सांसारिक विषयसुख को भी दुःख का ही कारण होने से हेयकोटि में ही रखा है ।

अब प्रश्न उठता है कि पतंजलि ने अनागत दुःख को ही विशिष्ट रूपसे हेय क्यों कहा? उक्त जिज्ञासा के समाधान के लिए अनागत पद पर विचार करना आवश्यक है । पतंजलि का अभिप्राय यह है कि भूत, वर्तमान एवं भविष्य इन तीनों कालों से सम्बन्धित

दुःख हेय की कोटि में नहीं आते, क्योंकि भोगद्वारा नष्ट हुए अतीतक्षण के दुःख तथा वर्तमानक्षण में भोगारूढ दुःख के प्रति हेयबुद्धि व्यर्थ है, क्योंकि उसी पदार्थ के प्रति द्वेषपरक बुद्धि रखना उचित है जो द्वेष्य के कारण का क्षय करने में समर्थ हो। अतः जो कर्माशय बन चुके हैं। उन के सुख दुःखरूप फलों को भोगना ही पडेगा। जो धर्माधर्मरूप कर्माशय भविष्यमें सुखदुःख का कारण बनते हैं अगर उन कारणों के कार्य उत्पादन की शक्ति को ही क्षीण कर दिया जाय तो भविष्य में दुःखों से बचा जा सकता है। इस प्रकार पतंजलि ने दुःख के साथ अनागत पद जोडकर विशिष्ट प्रकार से दुःख के स्वरूप को स्पष्ट किया है।

दुःख के स्वरूप को जानने से दुःख दूर नहीं हो जाते। अतः जिज्ञासा होती है कि इन सब दुःखों का मूलकारण क्या है? अर्थात् हेयहेतु क्या है? भारतीय दर्शनशास्त्र में अविद्या, अज्ञान, अविवेक या मिथ्याज्ञान को ही दुःखों का मूलकारण बताया गया है। भलेही दर्शनकारों ने इस अविद्यादि को अपने–अपने ढंग से समझने का प्रयास क्यों न किया हो। जैसे बौद्ध दर्शन ने प्रतीत्यसमुत्पाद के आधारपर दुःख के कारण को जानने का प्रयास किया है, किन्तु पतंजलिने। (योग. सू. II/17) द्रष्टा दृश्य के संयोग को दुःखों का कारण कहा है। द्रष्टा नाम चेतनशक्ति का है जिसे पुरुष, आत्मा चितिशक्ति आदि नामों से जाना जाता है। दृश्यपद का अभिप्राय समस्त प्रकृतिजन्य पदार्थों से है। जब पुरूष या आत्मा इस जडात्मक दृश्य जगत् से अपने आप को अभिन्न मानता है वही उसका औपाधिकरूप द्रष्टा कहा गया है। अतः दो भिन्न तत्वों में अभिन्नता का भास ही समस्त दुःखों का मूल कारण कहा गया। यहाँ संक्षेप में द्रष्टा–दृश्य एवं संयोग पदों पर विचार करना अपेक्षित है। जिस से हेय दुःख के हेतु को स्पष्ट किया जा सके।

यहाँ सूत्र में आए पहले द्रष्टा के स्वरूप को बतलाना चाहिए था, किन्तु सूत्रकार ने दृश्य के स्वरूप को पहले वताया, क्यों कि द्रष्टा को समझने से पूर्व उस के विषयभूत दृश्य को समझना जरूरी

था । अतः सर्वप्रथम दृश्य के स्वरूप पर विचार करते हुए सूत्रकार (यो. सू. II /18)का अभिप्राय है कि प्रकाश, क्रिया एवं स्थिति जिसका स्वभाव है, भूत एवं इन्द्रिय जिस का स्वरूप है तथा भोग एवं अपवर्ग जिसका प्रयोजन है, वही दृश्य है । संसार में द्रष्टा का संयोग इन्हीं पदार्थों से रहता है । इसे साधारण शास्त्रीय व्यवहार में प्रकृतिपुरुष संयोग कहा जाता है, परन्तु सूत्रकार ने दृश्य पद के प्रयोग से स्पष्ट किया है कि दृश्य अर्थात् कार्यजगत् के साथ ही पुरुष (द्रष्टा) का संयोग है । अव्यक्तप्रकृति के साथ पुरुष का संयोग किसी कार्य का साधक नहीं हो सकता । इसलिए दृश्य का अर्थ प्रकृतिजन्य व्यक्त पदार्थ महत् से स्थूल भूत पर्यन्त ही समझने चाहिए । सूत्र में आए प्रकाश, क्रिया एवं स्थिति क्रमशः सत्व, रज एवं तम गुणों के स्वभाव हैं । ये तीनों गुण यद्यपि पृथक् स्वभाव वाले हैं, तो भी परस्पर उपरक्त रहते हैं । सत्वगुण अपने प्रकाश का उदय रजोगुण के सहारे करता है तथा तमोगुण की विद्यमानता के कारण केवल नियत पदार्थ को ही प्रकाश में लेता है । एकसाथ विश्व के सभी पदार्थों को प्रकाशित नहीं करता । इसी प्रकार रजोगुण की प्रवृत्ति का प्रकाश भी सत्वगुण के उपराग से होता है तथा तमोगुण के प्रभाव से वह प्रवृत्ति नियन्त्रित रहती है । इस प्रकार ये गुण एक दूसरे से मिलकर महतत्व से लेकर पृथ्वी आदि नानाविध जगत् के उत्पादक है। जैसे स्त्री पुरुष अन्योन्यमिथुनीभाव से पुत्रादि सृष्टि के उत्पादक हैं वैसे ही ये गुण भी परस्पर उपाश्रय से नानाविध सजीव निर्जीव सृष्टि के उत्पादक हैं ।

ये तीनों गुण ही निस्वार्थभाव से पुरुष के भोग एवं अपवर्ग का सम्पादन रूप उपकार करते हैं । जिस प्रकार चुम्बक लोहखण्ड का आकर्षण करके अपने स्वामी को उपकृत करता है उसी प्रकार ये तीनों गुण विषय निवेदन द्वारा अपने स्वामी द्रष्टा पर उपकार करते हैं । द्रष्टा का उपकरण होने के कारण ही इन्हें गुण कहा जाता है । जिस समय पुरुष इस दृश्य के इष्ट अनिष्ट स्वरुप को धारण करता है अर्थात् अपने से अभिन्न मानता है तभी सुखदुःख को प्राप्त

होता है। यही उस का भोग है। जब दृश्य, पदार्थों से भिन्न अपने स्वरुप में उपस्थित हो जाता है उसी को अपवर्ग की संज्ञा दी गई है। इस प्रकार जगत् में मूलत: प्रकाश क्रिया एवं स्थिति ये तीन मौलिक क्रियाएँ ही दृष्टिगोचर होती है। इन तीनो गुणों की साम्यावस्था ही मूल प्रकृति है। जिसका कारण न होने से उसे नित्य माना जाता है। पुरुष प्रयोजन की सम्पन्नता के लिए इस की समस्त प्रवृत्तियां विषम अवस्था मे होती है। वह अवस्था नैमित्तिक है, इस लिए अनित्य है। गुणों की इस अभिव्यक्तावस्था के आधार पर इन कार्यों को (यो. सू. II/19) पर्वों की संज्ञा दी है जो निम्नसारिणी के माध्यम से समझे जा सकते है।

अलिङ्ग (प्रकृति)
|
चेतना --- लिङ्ग (महत् या बुद्धि)
|
अस्मितामात्र ---अविशेष--- पंचतन्मात्रा या सुक्ष्मभूत
करण | विषय
एकादशइन्द्रियाँ=विशेष --- स्थूलभूत
चेतना + करण + विषय = व्यक्ति
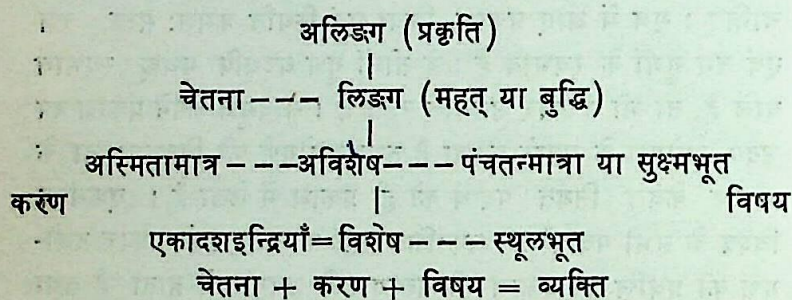
इन्हीं चार पर्वो के आधार पर समस्त दृश्य अर्थात् संसार को समझा जा सकता है। सूत्रकार ने सृष्टि को प्रतिसर्ग क्रम से दर्शाया है अर्थात् विशेष को पहले कहकर अलिङ्ग को अन्त में कहा है। इस का कारण यह हो सकता है कि प्राणी सर्वप्रथम स्थूल तत्वों के सम्पर्क में आता है, जो विशेष वर्ग के तत्व है, क्यों कि स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाना सरल होता है। इसी दृश्यजगत् के साथ द्रष्टा का व्यवहार रहता है।

द्रष्टा के स्वरूप विवेचन के प्रसंग में सूत्रकार ने द्रष्टा को (यो. सू. II/20) दृष्टिमात्र एवं शुद्ध कहा, साथ ही वे उसे बुद्धिवृत्ति के अनुरूप देखने वाला भी मानते हैं। भाष्यकार नें दृशिमात्र का तात्पर्य उस का किसी भी विशेषण से रहित होना कहा है।[1]

---

१. व्या. भा. II/20

वाचस्पतिमिश्र विशेषण का अर्थ धर्म कहते हैं1 । विज्ञानभिक्षु के अनुसार सभी गुणों का अन्तर्भाव "सत्वरजतम" इन तीनों गुणों में हो जाता है2 । अतः समस्त गुणों से रहित होना ही दृशिमात्रत्व कहा हे वे 'दृशि' को पुरुष का गुण न मानकर उस का स्वरूप मानते हैं । उन्होंने अपने कथ्य की पुष्टि निम्न श्लोक से की है–

ज्ञानं नैवात्मनोधर्मो न गुणो वा कथंचन ।
ज्ञानस्वरूप एवात्मा नित्य सर्वंगतः शिवः ।।

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि अगर पुरुष द्रष्टा ज्ञान स्वरुप है तो ज्ञान का आश्रय कैसे हो सकता है? अर्थात् ज्ञान स्वरुप धर्म का आधार होने से दृशिमात्र कैसे हो सकता है? सूत्रकार ने इस का समाधान 'शुद्धोऽपि' प्रत्ययानुपश्य पद के प्रयोग से किया है । उन का कहना है कि यद्यपि वह स्वभाव से ज्ञान का आधार न होने से शुद्ध ही है तथापि वुद्धिरूपी दर्पण में प्रतिविम्वित होने से उस बुद्धि के धर्मभूत ज्ञान का आधार प्रतीत होता है । इसलिए बुद्धिवृत्ति का अनुकारी होने से पुरुष 'प्रत्ययानुपश्य' कहा गया है । सूत्र में आएं 'शुद्धोऽपि' कहने से पुरुष के वास्तविक एवं औपाधिक दो रूपों का पता चलता है । बुद्धिवृत्ति का अनुकारी होना ही उसका औपाधिक रूप है । उस उपाधि से रहित होना उसका अपनें वास्तविक रूप में अवस्थित होना है । जब तक द्रष्टा बुद्धिवृत्ति के अनुरूप देखता हैं तब तक वह दृश्य जगत् के साथ संयुक्त रहता हुआ बुद्धि के सुख-दुःख रूपी धर्मों को अपना सुखदुःख मानता है । यही द्रष्टा एवं दृश्य का संयोग वास्तव में मनुष्य के दुःख का मूल कारण है । अतः इस संयोग पर विचार करना अपेक्षित लगता है कि यह संयोग क्यों हुआ? एवं इस का कारण क्या है?

संयोग का सामान्य अर्थ है– "संयुज्यते तादर्थ्येन बोध्यतेऽनेनेति संयोग" । अर्थात् दो पृथक् वस्तुओं का अपृथक्भाव से एक

१. तत्ववै. II/20.
२. योगवा. II/20.

प्रतीत होना । द्रष्टा एवं दृश्य दोनों पृथक् असंकीर्ण सत्ताएँ है किन्तु अहंभाव में उन का संयोग देखा जाता है, क्यों कि 'मैं' का कुछ अंश द्रष्टा रूप में तथा कुछ अंश दृश्य रूप में अनुभुत होता है यही अहं-भाव तथा उस से उत्पन्न प्रपंच है जो मनुष्य को अपने बास्तविक स्वरूप का भान नहीं होने देता ।

महर्षि पतंजलिने "स्वस्त्रमिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धि हेतुः संयोगः" (यो. सू. II/23) सूत्र से संयोग के स्वरूप पर प्रकाश डाला हैं । सूत्र में स्वपद दृश्य का वाचक एवं स्वामी पद चेतन द्रष्टा का वाचक है। द्रष्टा के द्वारा स्वशक्ति अर्थात् दृश्य के स्वरूप की उपलब्धि भोग है तथा स्वामि-शक्ति अर्थात् आत्मरूप की उपलब्धि अपवर्ग है । यह संयोग भोग एवं अपवर्ग रूप उपलब्धि का हेतु है स्व एवं स्वामी की इस स्थिति को स्व स्वामिभावसम्बन्ध या भोगभोक्तृभाव सम्वन्ध कहा जाता है। पुरुष इस अवस्था को कैसे प्राप्त होता है। इस अवस्था का कारण अविद्या है ऐसा सूत्रकारने कहा 'तस्यहेतुरविद्या' (यो. सू. II/24) इस से यह ज्ञात होता है कि बुद्धि एवं पुरुष का यह संयोग सनिमित्तिक है। अतः जो सनिमित्तिक होता है, उस का नाश अवश्य होना चाहिए । अविद्या से तात्पर्य है– अनात्म में आत्मभाव की प्रतीति । अविद्या शब्द में नंञ् अर्थ दो प्रकार का है । प्रसज्य-प्रतिषेध एवं पर्युदास। जिस में पहले का अर्थ है 'प्राप्तिपूर्वक निषेध'। इस पक्ष में अविद्या का अर्थ होगा– विद्या का अभावमात्र– परंतु यह अर्थ संगत नहीं लगता, क्योंकि अभावरूप पदार्थ कर्माशय का मूल हो ही नहीं सकता । अविद्यारूप क्लेश कर्माशय के मूल में है। "क्लेशमूलः कर्माशयःदृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः (यो. सू. II/12) ऐसा शास्त्र कहता है । पर्यदास का अर्थ है– भेद, कुछ स्थलों में यह भेद विरोध भी होता है। जैसे अधर्म का अर्थ है धर्मविरोधी (पाप) जो धर्म का नाश करता है । पर्युदास पक्ष में अविद्या का अर्थ होगा– विद्या से भिन्न, विद्याविरोधी। अविद्या को अदर्शन भी कहा जाता है। इस अविद्या के या अदर्शन के अभाव में बन्ध का अभाव होना ही मोक्ष है। अर्थात् अपने स्वरूप को प्राप्त होना है । भाष्यकार

तथा अन्य व्याख्याकारों ने अदर्शन के आठ विकल्प प्रस्तुत किए हैं जिन में चौथा विकल्प "प्रलयकाल में चित्त की उत्पत्ति की बीजभूत मिथ्याज्ञान की वासनाएँ चित्त के साथ ही प्रकृति में लीन रहती है। वही अदर्शन है" यही पतंजलि का सिद्धान्तपक्ष है। उक्त वासनात्मक अविद्या या अदर्शन तत्तत् पुरुष के साथ तत्तत् बुद्धि के संयोग का हेतु है इस सेप्रत्येक पुरुष का भोग वैचित्र्य भी उपपन्न हो जाता है।

इस प्रकार मिथ्याज्ञानजनितवासनारुप अविद्या ही उस संयोग का कारण सिद्ध हुई। अव प्रश्न उठता है कि इस अविद्या का कारण क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में पतंजलि ने 'तासामनादित्वं-चाशिषो नित्यत्वात् (यो- सू. IV/10) सूत्र से अविद्या को अनादि स्वीकार किया है। जिस का अभिप्राय यह होगा कि अविद्याजनित संयोग भी अनादि ही कहा जाना चाहिए। ऐसा मानने पर उस दुःख के कारण रूप संयोग का उच्छेद होना असंभव हो जाएगा। किन्तु सूत्रकारने इस समस्या का समाधान 'हेतुफलाश्रयालम्वनैःसंगृहीतत्वा-देषामभावे तदभाव' (यो. सू. 4/11) सूत्र से किया है। उन का अभिप्राय यह है कि वासनाएं अनादि तो है किन्तु अनन्त नहीं, क्यों कि वासनाओं का कारण अविद्या, राग, द्वेषादिक्लेश एवं कृष्ण–शुक्लादिकर्म है। जातिआयु एवं भोग उन के फल हैं। उन वास-नाओं का आश्रय चित्त है । इन्द्रियों के शब्दादि विषय उन के आलम्बन है। अतः यह प्रवाहरूप से अनादि हैं। इन का आविर्भाव इन्ही चार कारणों से होता है। उन कारणों का अभाव होने से उन का भी अभाव हो सकता है। अभाव से तात्पर्य अत्यन्ताभाव से नहीं, अपितु कार्य का कारण में लीन होने से है। (यो. सू.4/12)

यथार्थज्ञान या विवेकज्ञान द्वारा उस मिथ्याज्ञानजनित वासनारूप अविद्या के नष्ट होने पर बुद्धि एवं पुरुष का सम्बन्ध समाप्त हो जाता है। चित्त अपने कारण मूल प्रकृति में लीन हो जाता है और पुरुष अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। इसे ही कैवल्य कहा गया है। यही अवस्था हान की अवस्था है, जो योग में कैवल्य शब्द से परिभाषित है।

सूत्रकार ने "तद्भावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्" (यो. सू. II/25) सूत्र से हानव्यूह को दर्शाया है। उन का अभिप्राय है कि अविद्या के विरोधी यथार्थज्ञान से मिथ्याज्ञानजनित-वासनारूप अविद्या के अभाव से द्रष्टा एवं दृश्य का संयोग जो दुःखों का कारण है, उस का अभाव हो जाता है। यह हान ही उस चिति शक्ति का अपने स्वरूप में अवस्थित होना है। इस अवस्था में पुरुषार्थशून्य सत्वादि गुण अपने प्रतिलोम परिणाम क्रम से अपने-अपने कारण में लीन हो जाते हैं तथा चितिशक्ति पुरुष का चित्त से किसी प्रकार का सम्बन्ध न रहने से अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। यही कैवल्य की स्थिति है। (यो. सू. 4/34)

हान व्यूह की चर्चा में हान के स्वरूप पर विचार किया गया। यह अवस्था किस प्रकार प्राप्त की जा सकती है? उस के साधन क्या है? यह प्रमुख प्रश्न है। अतः हानोपायरूप चतुर्थव्यूह की अवतारणा हुई। सूत्रकार ने "विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः" (I1/26) सूत्र से अविप्लव विवेकख्याति को अविद्या के नाश का अचूक उपाय बताया। उन की दृष्टि में अविद्या का नाश करने के लिए द्रष्टा एवं दृश्य का अविछिन्न भेदज्ञान ही अनुपम उपाय है। विवेकख्याति में आए विवेक पद का तात्पर्य है– चित्त या बुद्धि एवं पुरुष अर्थात् चेतनशक्ति का भेदज्ञान, तद्विषयक जो ख्याति या प्रबल ज्ञान अथवा मन में जो प्रख्यातभाव है, वही विवेकख्याति है। यद्यपि आगम एवं अनुमान प्रमाण के द्वारा भी द्रष्टा एवं दृश्य के भिन्न भिन्न स्वरूप का ज्ञान हो जाता है, किन्तु उस में व्युत्थानात्मक प्रत्यय एवं तज्जन्य संस्कार का नाश नहीं हुआ करता। उन के पुनः उभरने की आशंका बनी रहती है। अतः यौगिक पद्धति द्वारा प्राप्त विवेक-ख्याति ही हान का उपाय है। जिस साधक ने उस अविप्लव विवेक-ख्याति को प्राप्त कर लिया उस की प्रज्ञा किस प्रकार की होती है इसे सूत्रकार ने "तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिःप्रज्ञा" (यो. सू. II/27) सूत्र से कही है। योग के अनुसार समस्त ज्ञानों में उत्कृष्टतम वही ज्ञान है जो राजस एवं तामस वृत्तियों से रहित विशुद्ध सत्वगुणप्रधान

एकाग्रचित्त में पल्लवित एवं कुसुमित होता है। जिस समय वह ज्ञान फलोन्मुख होता है उस समय सात प्रकार की प्रज्ञाओं का उदय होता हैं। ये प्रज्ञाएं उस विवेकज्ञान की परिपूर्णता का सोपान हैं। इसलिए प्रान्तभूमि नाम से परिभाषित है। प्रान्तभूमि शब्द का विग्रह वाचस्पतिमिश्र ने 'प्रकृष्टोऽन्तो यासां भूमिनामवस्थानां तास्तथोक्ताः' (त. वै. II/27) किया है। उन का अभिप्राय है कि ज्ञान एक ही है तथापि प्रज्ञा के सात भेद विषयभेद पर आधारित हैं। "विषयभेदात् प्रज्ञाभेदः" अर्थात् विषयभेद से ज्ञानभेद होता है जैसे रूपज्ञान स्पर्श-ज्ञान से भिन्न है– एक ज्ञान रूपविषयक और दूसरा स्पर्शविषयक महर्षि व्यास ने (व्या. भा. II/27) प्रज्ञा के इन सात भेदों को दो समूहों में विभाजित किया हैं– कार्यविमुक्ति एवं चित्तविमुक्ति। कार्यविमुक्ति वे प्रज्ञाएँ हैं जो प्रयत्नसाध्य हैं तथा चित्तविमुक्ति वे प्रज्ञाएं हैं जो कार्यविमुक्ति प्रज्ञाओं के प्राप्त होने पर विना किसी प्रयास के स्वतः सिद्ध होती है। विस्तारभय के कारण यहाँ उन के नाम मात्र गिनाए गये है– हेयशून्यावस्था, ज्ञेयशून्यावस्था, प्राप्यप्राप्त अवस्था, चिकीर्षाशून्यावस्था, चित्तविमुक्तिअवस्था, गुणलीनता एवं कैवल्यावस्था।

पातंजल योग सूत्र मे उक्त विवेकख्याति को प्राप्त करने के विभिन्न साधनों का उल्लेख मिलता है। जैसे अभ्यास वैराग्य,1. क्रियायोग, 2. एवं अष्टाङ्गयोग १: इत्यादि। इस प्रकार विभिन्न साधनों के उल्लेख से प्रतीत होता है कि पतंजलि के मन मे अधिकारि–भेद की कल्पना रही होगी। यद्यपि स्वयं पतंजलि ने इस तथ्य का कहीं भी स्पष्टउल्लेख नहीं किया है।

---

1. योग सूत्र I/12, 2. वही II/1

१. वही II/29.

भाष्यकार व्यास२. तथा वाचस्पति मिश्र३. आदि व्याख्याकारों ने साधकों की श्रेणियों के आधार पर उक्त साधनों का उल्लेख किया है। उन के अनुसार जिन साधकों का चित्त पूर्वजन्म के शुभ संस्कारों से समाहित रहता है। ऐसे उत्तमकोटि साधकों के लिए अभ्यास वैराग्य रुप उपाय एवं दूसरे प्रकार के साधक जिन का चित्त व्युत्थित है अर्थात् वासनाओं में फसा हुआ है। परन्तु फिर भी वे योग मार्ग को अपनाने के इच्छुक है, उन के लिए क्रियायोग एवं अष्टांगयोग रूप उपायों का निर्देश मानते हैं।

प्रस्तुत सन्दर्भ में एक जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि क्रियायोग में तप–स्वाध्याय–ईश्वरप्रणिधान रूप जिन उपायों का उल्लेख मिलता है, वे तो अष्टांगयोगमें वर्णित नियमों के अन्तर्गत आ ही जाते है तो पतंजलि को उन की विशिष्ट क्रियायोग संज्ञा देने की क्या जरूरत थी ? इस के समाधान हेतु योगवार्तिककार विज्ञानभिक्षुने तीन प्रकार के अधिकारियों की कल्पना की है। उत्तम, मध्यम एवं मन्द जिनकी क्रमशः योगारूढ, युंजान एवं आरूरूक्षु संज्ञा दी है।४. उन के अनुसार पूर्वजन्म में जिन्होंनें अनवरत अभ्यास के द्वारा यम, नियम, आसन, प्राणायाम एवं प्रत्याहार रूप पंचबहिरंग योग को सिद्ध कर लिया है ऐसे उत्तमकोटि साधकों के लिए अभ्यासवैराग्य रूप उपायों का विधान है। अपने कथ्य की पुष्टि में उन्होने शिशुपाल का उदाहरण दिया है।५. शिशुपालको स्मरण के अभ्यास मात्र से मोक्षप्राप्ति हो गयी थी। मेरे मतानुसार अभ्यास एवं वैराग्य दोनों का एक साथ सिद्ध होना अपेक्षित लगता है। भाष्यकार व्यास

---

२. उद्दिष्टः समाहितचित्तस्ययोगः कथं व्युत्थितचित्तोऽपि योगयुक्तःस्यात् (व्या. भा. II/1)

३. त. वै. II/1

४. तत्र मन्दमध्यमोत्तमभेदेन त्रिविधा योगाधिकारिणो भवन्त्यारुरूक्षुयुंजानयोगारूढ रूपाः। (योगसारसंग्रह पृ. 37)

५. यो. वा. II/1, ~~व्या. भा. I/12~~

ने चित्तनदी की जिन दो धाराओं का उल्लेख किया है१. इसका यही अभिप्राय है कि मनुष्य की विषयों की ओर जाने की स्वाभाविक प्रवृत्ति संसारप्रदायिनी अर्थात् दुःखदायिनी धारा है। उस धाराको वैराग्य के द्वारा रोका जा सकता है तथा मोक्षप्रदायिनी धारा से अर्थात् विवेकदर्शन के अभ्यास से विवेकस्रोत को उद्घाटित किया जा सकता है।

इसी प्रकार पूर्वजन्म के अभ्यास के कारण जिनका चित्त कुछ एकाग्र हो चुका है उन मध्यकोटि साधकों के लिए क्रियायोग की साधना का उल्लेख किया है। क्रियायोग में "तप–स्वाध्याय एवं ईश्वरप्रणिधान" को रखा गया है। तप में शरीर एवं इन्द्रियों को उतना ही क्षीण करना अभीष्ट है जिस से धातु वैषम्य न हो क्योंकि धातु वैषम्य के कारण शरीर योग साधना में असमर्थ हो सकता है। स्वाध्याय–चित्त को संसारिक विषयों से हटाने के लिए सद्ग्रन्थों का अध्ययन, ईश्वरप्रणिधान–सभी प्रकार के कर्मों को ईश्वर अर्पित करना ही ईश्वरप्रणिधान है। क्रियायोग क्लेश की आत्यन्तिक निवृत्तिपूर्वक समाधि एवं मोक्ष का परम्परया कारण है।

अत्यन्त चंचल स्वभाव के मन्दकोटि गृहस्थाश्रमियों के लिए अष्टांगयोग रूप उपाय का उल्लेख किया है। क्यों कि विषयवासनाओं से जर्जर उन का चित्त अभ्यासवैराग्य एवं क्रियायोग जैसे दुःसाध्य उपायों में सहज क्रियात्मक रूप नहीं ले पाता। यहाँ अष्टांगयोग की विस्तारभय से व्याख्या नहीं की है। कुछ भी हो, क्लेश संकुल संसार से दुःख–निवृत्ति के लिए एवं विवेक ज्ञान को प्राप्त करने के लिए सुगम एवं सुप्रसिद्ध मार्ग अष्टांगयोग को स्वीकारा गया है। पतंजलि ने जितने भी उपायों का उल्लेख किया है उन सब का अन्तर्भाव अष्टांगयोग में हो जाता है।२ किस अंग में कौन सा साधन अन्तर्भूत माना जा सकता है इसे स्पष्ट करते हुए विज्ञान-

१. व्या. भा. I/12.

२. अभ्यासवैराग्यश्रद्धावीर्यादयोऽपि यथा योगमेतेष्वेव स्वरूपतो अन्तर्भावयितव्याः। (त. वै. II/29)

भिक्षु लिखते हैं२. कि वैराग्य का सन्तोष में श्रद्धादि का तप आदि में एवं चित्तपरिकर्मों का धारणा, ध्यान एवं समाधि में तथा क्रिया-योग का अष्टांगयोगान्तर्गत नियमों में अन्तर्भाव हो जाता है। सूत्र-कार ने भी 'योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः (यो. सू. II/28) सूत्र से मिथ्य या ज्ञानजनित अविद्या रूप अशुद्धिके क्षय एवं विवेकख्याति को प्राप्त करने का अचूक उपाय अष्टांगयोग को ही स्वीकार किया है। सूत्र में आए 'योगाङ्गानुष्ठान' पद का अभिप्राय है– ज्ञानमूलककर्मोंका आचरण एवं अशुद्धि पद का तात्पर्य केवल अज्ञान नहीं अपितु अज्ञानमूलककर्म और उन के संस्कारों से है। तात्पर्य यह है कि योगाङ्गानुष्ठान मिथ्य या ज्ञानजनितवासना अविद्या के वियोगका कारण है तथा वही अनुष्ठान विवेकख्याति रूप की प्राप्ति का कारण है। उस विवेकख्याति का निरन्तर अभ्यास करता हुआ साधक उस की प्राप्ति के फलस्वरूप मिलनेवाली और भी अनेकविध सिद्धियों की भी कामना नहीं करता । अपितु उन्हें दोषयुक्त मानता हुआ उन से भी विरक्त रहता है। तब वुद्धि एवं पुरूष के भेद ज्ञान रूप विवेक का निरन्तर प्रवाह ही साधक के चित्त में रहता है। उस ज्ञान की अनवरतता ही अविप्लवविवेकख्याति है जो सूक्ष्मरूप से विद्यमान मिथ्याज्ञान को दग्धबीजभाव कर देती है। अन्ततः मिथ्याज्ञान के आश्रयभूत चित्त की निवृत्ति द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि महर्षिपतंजलि ने दर्शन-शास्त्र में प्रचलित चतुर्व्यूहात्मक सिद्धान्त को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। उन्होंने उस सिद्धान्त को न केवल सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य मे अपितु उसे सभी साम्प्रदायिक पक्षपातों से रहित होकर व्यावहा-रिकता की दृष्टि से देखा है। यही कारण है कि सभी दर्शनों ने योग

---

२. तत्र वैराग्यस्य संन्तोषे प्रवेशः श्रद्धाऽऽदीनां च तप आदिषु, परिकर्मणां च धारणाऽऽदित्रिक् इति। (यो. वा. II/29)

की उपादेयता को स्वीकार किया है। अतः संक्षेप में कहा जा सकता है कि सूत्रकार ने योगविषयक वहुमूल्य अनुभवों एवं विचारों को जिन का प्रवाह वैदिक वाङ्मय से प्रवाहित होता आ रहा था, उन इतस्तत विखरे विचारों एवं अनुभवों को इस चतुर्व्यूहात्मक पद्धति की कसौटी पर परखते हुए यथास्थान एकत्रित कर योगजिज्ञासुओं एवं साधकों के लिए इस योगमार्ग को प्रशस्त किया है। कोई भी व्यक्ति अपने जीवन की प्रयोगशाला में इस योगविद्या का अभ्यास कर संसार में सुखी जीवन यापन करता हुआ परमलक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है।

★ ★

न पापे प्रतिप्रापः स्यात्, साधुरेव सदा भवेत्।
आत्मनैव हतः पापो यः पापं कर्तुमिच्छति ॥
(महाभारत व. प- २०७/४५)

(पाप करनेवाले के प्रति बदले में पाप न करे—बुरा करनेवाले से बदला न ले। सदा साधुस्वभाव से ही रहे। जो पापी किसी के प्रति अकारण पाप करना चाहता हैं, वह स्वयं नष्ट हो जाता है)।

♣ ♣ ♣

असतां दर्शनात् स्पर्शात्, संजल्पाच्च सहासनात्।
धर्माचाराः प्रहीयन्ते सिध्यन्ति च न मानवाः ॥
म. भा. व. प. १/२८

"दुष्ट मनुष्यों के दर्शन से, उनके साथ वार्तालाप करने से तथा एक आसन पर बैठने से धार्मिक आचार नष्ट हो जाते हैं, और मनुष्य किसी कार्य में सफल नहीं हो पाते"।

● ●

सत् का स्वरूप: अनेकान्तवाद और पाश्चात्य व्यावहारिकतावाद की दृष्टि में ।

डा० राजेन्द्र कुमार सिंह
रीडर एवं अध्यक्ष
दर्शन विभाग
जगजीवन कालेज, गया (विहार)

"सत्" का स्वरूप क्या है, यह एक ऐंसा प्रश्न है जिसके समाधान हेतु मानव-समाज आदिकाल से ही लगा हुआ है। क्या इस विश्व का स्वतंत्र अस्तित्व है या सृष्टि का परिणाम है? क्या इस विश्व का पदार्पण एकाएक हुआ है या धीरे-धीरे? क्या इस विश्व में जडतत्व प्रधान है या चेतन तत्व या दोनों ? क्या यह विश्व अनन्त है या सान्त आदि ऐंसे अनेकों प्रश्न सत्ता के सम्बन्ध में होते रहे हैं जिनके समाधान का प्रयास दार्शनिकों द्वारा प्रत्येक युग में होता आया है[१]।

"सत्" से सम्बन्धित समस्याओं का समाधान भारतीय एवं पाश्चात्य अनेकों विद्वानों ने विभिन्न रूपों में करने का प्रयास किया है। परन्तु प्रस्तुत निबन्ध में हम जैन-दार्शनिकों की अनेकान्तवादी-दृष्टि एवं पाश्चात्य-दर्शन के व्यावहारिकतावादी-दृष्टि पर ही एक तुलनात्मक विचार करेगें तथा यह देखेगें कि दोनों के विचारों में कितनी

१- देखिये- एच. एस. भट्टाचार्य की पुस्तक 'अनेकान्तवाद' में मुनि भदराकर का विचार, (जैन संस्थान साहित्य प्रकाशन समिति, भावनगर, १९५३, पृष्ट १०)।

समानता है। यह ठीक है कि जैन विचारक मुख्यतः वस्तुवादी है और वहुतेरे व्यावहारिक्तावादी विचारक प्रत्ययवादी सिद्धान्त के मानने वाले हैं, और इस दृष्टि से उनके तात्त्विक विचारों में कुछ भेद भी है। परन्तु जहाँ तक 'सत्' के वास्तविक स्वरूप का प्रश्न है, वहां दोनों के सिद्धान्तों में हम अधिक समता देखते हैं। 'अनन्तधर्मकं वस्तु' दोनों का मूल सिद्धान्त है। अर्थात् जिस दृष्टि से जैन-दार्शनिकों ने सत् को पहचानने का प्रयास किया है, पाश्चात्य व्यावहारिकता वादी विचारकों का भी प्रयास बहुत कुछ उसी रूप में हुआ है।

जैन-दर्शन में 'सत्' के लिए तत्त्व, अर्थ, द्रव्य, पदार्थ आदि शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में किया गया है। तत्त्व-सामान्य के लिए इन सभी शब्दों का उल्लेख एक ही अर्थ में हुआ है। जैन-दर्शन के अतिरिक्त अन्य भारतीय सम्प्रदायों में भी इन शब्दों का उल्लेख भिन्न-भिन्न रूपों में हमें मिलते हैं। जैसे- वैशेषिकदर्शन में द्रव्य, गुण, आदि सात पदार्थों, न्याय-दर्शन में प्रमाणदि सोलह पदार्थों, सांख्य-दर्शन में पुरुष-प्रकृति, आदि।

जैन- दार्शनिक प्रत्येक 'द्रव्य' या 'सत्' को अनन्त धर्मों का मौलिक पिण्ड मानते है[२]। अर्थात् सत् का स्वरूप बहुतत्त्ववादी है। परन्तु इस अनन्त धर्मों वाली वस्तु का ज्ञान विभिन्न व्यक्तियों द्वारा विभिन्न रूपों में एकांगी रूप से होता है। वे सभी 'सत्' को केवल एक दृष्टि से देखते हैं। जैसे भ. बुद्ध ने सत् को अनात्मवाद के आधार पर जानने का प्रयास किया और उसे क्षणिक या शून्यता माना। इससे भिन्न दृष्टि वाले शंकराचार्यनें वेदों और उपनिषदों के आधार पर 'सत्' को समझने का प्रयास किया और उसे एकत्व घोषित किया। परन्तु जैन-दर्शन के अनुसार ये सभी सिद्धान्त 'सत्'

---

२. देखिये- नथिमल टाटिया का निवन्धः अनेकान्तवाद, स्याद्वाद और सप्तभंगी, आचार्य भिक्षु स्मृति ग्रंथ, (श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकता, १९६१) में प्रकाशित।

को केवल एक दृष्टि से देखने के कारण एकांगी हैं। 'सत्' तो अपने आप में अनन्त धर्म–गुणों के लिए हुआ है[३]। मानव का सत् सम्बन्धी ज्ञान आंशिक होता है जिसे जैन दार्शनिक नय की संज्ञा देते है। अर्थात् नयों द्वारा मानव सत् के एक–एक अंश को ही जान पाता है। मानव की दृष्टि परिमित और सीमित होती है। यह कथंचित् ही वस्तु को देख या जान पाता है। वस्तु का सर्वांग ज्ञान उसे युगपत् नहीं होता है। फलस्वरूप मानव का प्रत्येक कथन सीमित दृष्टि–सापेक्ष हैं। अत: कोई निर्णय निरपेक्ष सत्य नहीं है[४]।

जैन– दार्शनिक द्रव्य या सत् पदार्थ में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का त्रिलक्षण मानते है। (उत्पाद व्यय ध्रौव्ययुक्तम्)[५] प्रत्येक द्रव्य चाहे वह चेतन हो या अचेतन त्रिलक्षण युक्त परिणामी है। उत्पाद और व्यय को पर्याय और ध्रौव्य को 'गुण' कहा है। गुण नित्यता का सूचक है और पर्याय परिवर्तन का। जैन– दार्शनिक वस्तु में उत्पाद और व्यय अवश्य मानते है, परन्तु वह मूल वस्तु का उत्पाद और व्यय नहीं होता. प्रत्युत वस्तु के पर्यायोंका उत्पाद और व्यय है। अर्थात् जैन दार्शनिकों के अनुसार देश और काल सत् की व्याख्या में भेद अवश्य लाते हैं, पर उसके मूल स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं लाते। सत् प्रतिक्षण परिवर्तित होकर भी कभी समूल नष्ट नहीं होता।

जैन– दार्शनिक सत्– कार्यवाद के समर्थक होनें के कारण यह मानते है कि कार्य पर्यायों का एक नवीन रूप है, वस्तु का स्वभाव

---

३. देखिये–एस. एन. दास गुप्ता की पुस्तक 'भारतीय दर्शन,' भाग १ (केम्ब्रीज यूनिवर्सिटी प्रेस, १९६३), पृष्ट १७६.

४. देखिये– नथिमल टाटिया की पुस्तक 'स्टडीज इन जैन फिलासफी' (जैन कल्चरल रिसर्च सोसायटी, बनारस, १९५१), पृष्ट २२.

५. तत्त्वार्थ– सूत्र ५। २९

नहीं। दूसरे शब्दों में वस्तु का वास्तविक जातीय गुण नहीं बदलता है, केवल उसके रूप या पर्याय ही बदलते है। जैन- दार्शनिकों का स्पष्ट मत है कि जिस बस्तु का भाव है उसका निरपेक्ष रूप से अभाव नहीं हो सकता। इसी प्रकार जिसका अस्तित्व नहीं है, वह अनस्तित्व में भी नहीं आ सकता। अर्थात् ये निरपेक्ष रूप से कभी नहीं पाये जाते। वस्तु सापेक्ष है। एक विशिष्ट दृष्टिकोण की अपेक्षा सभी विद्यमान है, किन्तु दूसरे दृष्टिकोण की अपेक्षा कोई वस्तु विद्यमान नहीं हैं।

इस प्रकार सत् अपने आप में पूर्ण है। उसे एकान्तिक रूप से न तो पूर्ण और न तो आंशिक कहा आ सकता है। वह तो इन दोनों का सम्मिलित रूप है६।

प्रत्येक व्यक्ति को 'सत्' का पूर्णरूपेण त्रिकालावाधित यथार्थ दर्शन हो सके, यह संभव नहीं है। उसके त्रिकालावाधित पूर्णरूपेण साक्षात्कारपूर्ण पुरुष ही कर सकते हैं। परन्तु वें भी उसे वाणी द्वारा व्यक्त नहीं कर सकते। यही कारण है कि देश, काल, परिस्थिति, भाषा एवं शैली आदि की विविधता के कारण पूर्ण पुरुषों के कथन में भी शाब्दिक भेद दिखाई दे सकता है। जैसे- म. महावीर एक स्थान पर कहते हैं- 'एगे आया', अर्थात् आत्मा एक है। पुनः अपने उपदेश के दूसरे क्रम में कहते है कि- 'अनेगेआया', अर्थात् आत्मा अनेक है। शाब्दिक दृष्टि से दोनों कथनों में अन्तर दिखाई देता है, परन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि से कोई विरोध नही है। यथार्थता की दृष्टि से देखने पर आत्मा में एकत्व और अनेकत्व दोनों वर्तमान है। भगवती-सूत्र७ में हमें इस तरह के कई उल्लेख मिलते हैं।

---

६. देखिये- सत्कारी मुखर्जी की पुस्तक जैन फिलासफी ऑफ नन-एब्सोलूटिज्म, (भारती महाविद्यालय, कलकत्ता, १९४४) पृष्ठ १३.

७. देखिये- भगवती-सूत्र १।४।४२, ७।४।२७९, आदि।

इस प्रकार जैन– दार्शनिक एक ही वस्तु को सापेक्ष दृष्टि से नित्य ओर अनित्य, एक और अनेक, अस्तित्ववान और अनस्तित्व-वान दोनों ही मानते हैं। मानव का वस्तु सम्बन्धी ज्ञान अपेक्षात्मक (रिलेटिव) होता है। जैन– दार्शनिक इसकी व्याख्या कई अंधे व्यक्तियों द्वारा एक ही हाथी के सम्बन्ध में विभिन्न दिये गये आंशिक ज्ञान से करते हैं। अर्थात् कोई व्यक्ति हाथी के कान को पकडकर उसे सूप के आकार के समान मानता है तो कोई उसकी पूंछ को पकडकर रस्सी के समान। इसी प्रकार कोई उसके पैर को देखकर खम्भ के समान मानते हैं तो कोई वदन को देखकर दीवाल के समान, आदि। परन्तु इन सभी अंधे व्यक्तियों द्वारा हाथी के सम्बन्ध में व्यक्त किये गये ज्ञान को आंशिक रूप से ही सत्य कहा जा सकता है। हाथी तो अपने आप में इन सबों को लिए हुए पूर्ण रूप से सत्य है। इस प्रकार वस्तु का ज्ञान अपेक्षात्मक रूप से होने के कारण वह 'स्यात्' या 'कथंचित्' रूप से ही सत्य या असत्य होता है। अतः हमें प्रत्येक कथन के पूर्व 'स्यात्' शब्द लगाना चाहिए। किसी वस्तु के किसी विशेष गुण को व्यक्त करने को 'नय' कहा जाता है। अर्थात्, 'नय' वस्तु का आंशिक ज्ञान है। हम विभिन्न 'नयों' द्वारा ही वस्तु का ज्ञान प्राप्त करते हैं। उसके पूर्ण रूप में कदापि नहीं।

पाश्चात्य व्यावहारिकतावाद मूलतः एक ज्ञात मीमांसीय सिद्धान्त है। अतः जैन– दर्शन की तरह सत् के स्वरूप के सम्बन्ध में हम अलग से व्याख्या नहीं पाते है। फिर भी ज्ञान मीमांसीय सिद्धान्त की व्याख्या के संदर्भ में ही 'सत्' की व्याख्या परोक्ष रूप से हम अवश्य पाते है। जैसा कि जैन– दार्शनिक 'सत्' को अनुभवगम्य मानता है, व्यावहारिकतावादी दार्शनिक भी अपनी वस्तुवादी धारणा के अनुकूल इससे पूर्णतया सहमत है। वे इन्द्रियानुभव से प्राप्त ज्ञान को प्रामाणिक मानते है और इस प्रकार अनुभव में आने वाली वस्तुओं को सत् समझते हैं। इसका यह तात्पर्य है कि यह विषयगत संसार अनेकात्मक है और यहाँ की प्रत्येक वस्तु अनेकी समान तथा असमान धर्मों से युक्त है। व्यावहारिकतावादी दार्शनिक जैम्स

प्रत्यक्ष नुभूति को ज्ञान का सबसे सरल और निश्चित साधन मानते है। साक्षात् वस्तु के सम्बन्ध में वही विचार या प्रत्यक्ष जो उस वस्तु का यथार्थ ज्ञान देता है, सर्वोत्तम प्रत्यय माना जाता है८। क्योंकि यहाँ किसी प्रकार विरोध का स्थान नहीं रहता है और हमारे अनुभव तथा अनुभूत वस्तु इन दोनों में पूर्ण तादात्म्य हो जाता हैं९।

अत: जैम्स, जैनों के समान यह स्वीकार करते है कि सत् का ज्ञान अपनी दृष्टि भेद पर निर्भर करता हैं। किसी वस्तु को हम जिस दृष्टि से देखते हैं या उसका प्रत्यक्ष बोध हमें होता है, वही सत् का यथार्थ स्वरूप हमें मानना चाहिए। जेम्स कहते हैं– अनेकों परिचित वस्तुओं में प्रत्येक व्यक्ति मानवीय तत्व को पहचान लेगा। हमारे प्रयोजन के अनुसार हम किसी प्रदत्त सत् को एक या दूसरे तरीके से सोच सकते हैं, और वह सत् अपने आपको हमारी संकल्पना के अनुरूप ढाल लेता हैं१०।

इस प्रकार जेम्स जैनों की यह उक्ति "अनन्त धर्मकम् वस्तु" को चरितार्थ करते हैं। वे इसमें तनिक भी संदेह नहीं करते है कि एक

८– देखिये– विलियम जैम्स, 'द मिनिंग ऑफ ट्रुथ' (न्यूयार्क, १९२७) पृष्ट ४१.

९– देखिये– सामान्यत: सत् वह है जिसकी सत्य ज्ञान उपेक्षा नहीं कर सकता, और इस दृष्टिकोण के अनुसार सत् का प्रथम भाग हमारे संवेदनों का सतत प्रवाह है। वे एक तरह से हमारे ऊपर जबर्दस्ती थोपे जाते है, हम यह भी नहीं जानते कि वे कहाँ से आते हैं (अर्थात् उनके उद्‌भव स्थल कहाँ हैं), उनके स्वरूपक्रम और संस्था पर हमारा नियंत्रण नहीं के बराबर होता है।

– विलियम जैम्स, प्रयोजनवाद, अनु. (राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, १९७२), पृष्ठ १४१.

१०– वही पृष्ठ १४४.

ही वस्तु कैसे विभिन्न धर्मों से युक्त हो सकती है। वह जैनों की तरह अपनी अनेकत्व-वस्तुवादी (रीयलिस्ट प्लुरिज्म) धारणा के अनुसार उसे अनुभवपरक मानते हैं।

पुनः जैन-दार्शनिकों की स्याद्वादी धारणा के अनुकूल जैम्स यह स्वीकार करते हैं कि एक ही सत्ता के सम्वन्ध में अनेकों विचार हो सकते है, यद्यपि ये विचार दूसरे से भिन्न और विरोधी दीख पडते हैं। इस दृष्टि से दत्त विषय एक ऐसी संदिग्ध और अस्पष्ट पूर्ण वस्तु होती है जिसे हम अपनी रूचि, परियोजन और इच्छा के अनुकूल अनेकों रूपों में व्यक्त कर सकते हैं। अतः जैम्स के अनुसार सत् पहले से रचित नहीं हौता, बल्कि उसका सृजन स्वयं व्यक्ति अपनी इच्छानुसार करता है जो उसके दृष्टिभेद पर निर्भर करता है११

व्यावहारिकतावादी डि-यूई भी यह स्वीकार करते हैं कि व्यक्ति की इन्द्रियानुभूति में जो वस्तु प्रत्यक्ष दीख पड़ती है, अर्थात् जितने सारे दत्त-विषय हैं, उन्हें सत् की संज्ञा दी जा सकती है। ऐसे सत् के गुण, उसके वास्तविक स्वरूप आदि हमारी इन्द्रियानुभूति में तत्क्षण दीख पड़ते है जब हम उनके सर्म्पक में आते है। जैन-चिंतकों के समान डि-यूई भी यह मानते हैं कि सत् अनेक विशेषताओं या धर्मों की समष्टि है, जो प्रायः परिवर्तनशील होता है। १२

डि-यूई जैनों के सत् सम्बन्धी त्रिलक्षण (उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य) से सहमत हैं। इस दृष्टि से डि-यूई उसे घटना (इवेन्ट्स) के नाम से पुकारते है, जो परम्परावादी द्रव्य की कल्पना से भिन्न नहीं कही जा सकती है। अतः कोई भी वस्तु या तो साधारण टेबुल

११- देखिये- डी. एम दत्त की पुस्तक चीफ करेन्ट्स आफ कन्टेम्पोररी फिलासफी, (कलकत्ता यूनिवर्सिटी प्रेस, १९६१ पृष्ठ २२५

१२- देखिये- जान डि-यूई की पुस्तक एक्सपीरिएन्स एण्ड नेचर, (ओपनकोर्ट, शिकागो, १९२९), पृप्ठ ३१८

कुर्सी. पुस्तक या ऐसे कोई भी स्थूल पदार्थ हों, छोटे या विराट् रूप में सभी अर्थपूर्ण घटनाऐं है, अर्थात् वे कुछ विशेष गुण या धर्मों के संग्रह हैं और व्यक्ति वास्तव में उन्हें इन्हीं धर्मों के रूप में जानता है। १३

शीलर भी सत् की व्याख्या मानवतावादी रूप में करते हैं जो करीब-करीब जेम्स के व्यावहारिकतावाद की विस्तृत व्याख्या मानी जा सकती है। सत् हमारी संवेदना का विषय होता है और वह हमारे मन तथा बुद्धि से सम्बन्ध रखकर ध्यान को अपनी ओर आकृष्ट करता है। जैनों के समान यह स्वीकार करते हैं कि सत् का ज्ञान अपनी दृष्टि भेद पर निर्भर करता है। किसी वस्तु विशेष को हम जिस दृष्टिसे देखते है या उसका प्रत्यक्ष बोध हमें होता है; वही सत् का यथार्थ स्वरूप हमें मानना चाहिए। १४ अतः ऐसा कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि सत् का सृजन स्वयं व्यक्तिः अपनी रुचि और इच्छा से करता है। शीलरका कहना है -- यह विश्व आवश्यक रूप से पदार्थमय -- है, यह वैसा ही देखा जाता है, जैसा हम इसकी रचना करते है। इसकी परिभाषा इसके आरं-भिक रूप में देना, या यह हमसे अलग होकर जो है, उसके द्वारा देना निरर्थक है, वह वैसा ही है जैसा इसे हम बनाते हैं। १५

उस प्रकार शीलर का कहना है कि सत् का निर्माता व्यक्ति स्वयं है। सत् जो प्रत्ययवादियों के लिए सनातन काल से पूर्व रचित और पूर्ण है, वह व्यावहारिकतावादियों के अनुसार अभी भी सृजन

१३- देखिये- वही, पृष्ठ ३२०

१४- देखिये- एफ. सी. एच. शीलर की पुस्तक-स्टडीज इन ह्यू-मेनिज्म (ग्रीनयुड, १९२२), पृष्ठ ४८३।

१५- देखिये- पर्सनल आइडियलिज्म (आठ दार्शनिकों की सम्मि-लित पुस्तक) पृष्ठ-६०

की संभावना इसमें वर्तमान है।१६ शीलर ने अपने इस विचार को वैयक्तिक प्रत्ययवाद (पर्सनल आइडियाल्जिम) कहा जो निरपेक्ष प्रत्ययवाद या उग्र वस्तुवादी विचार से भिन्न है। किन्तु इसे वृहद् अर्थ में सामान्य बुद्धि वस्तुवाद या अनुभववादी विचार कहना यथोचित जान पड़ता है, क्योंकि यह व्यावहारिकतावादी धारणा के विपरीत नहीं दीखता। यह संसार को सार्थक सिद्ध करने के उद्देश्य से जैनदार्शनिकों की तरह मानवबुद्धि की सृजनात्मक क्षमता और प्रयोजनवादी क्रियाशीलता को विशेष महत्व देता है, जैसा कि जैन-दार्शनिक भी यह विश्वास करते हैं कि मानव बुद्धि निरन्तर परिवर्तनशील है और उसमें विकास की क्षमता भी है, इसके अतिरिक्त सत् के सम्बन्ध में जो जो हमारी कोई विशेष धारणा है, दूसरी दृष्टि से देखने पर उसमें और भी परिवर्तन होते हैं। इस तरह सत् के स्वरूप के सम्वन्ध में हमारा ज्ञान शनैः शनैः और भी विकसित होता जाता है।

इस प्रकार सत् के सम्बन्ध में जैन–दार्शनिकों की अनेकान्तवादी दृष्टि और पाश्चात्य व्यावहारिकता में हम अधिक समता देखते हैं। कहनेका तात्पर्य है कि सत् के सम्बन्ध में दोनों के विचार में अधिक समता हम पाते है। वस्तुओं को दोनों ही ज्ञेय मानते हैं और दोनों ही अपनी रूचि और प्रयोजन के अनुसार उन्हें देखते है और उनका अर्थ– निरूपण करते है। अर्थात् अनेकान्तवादी या स्याद्वादी दृष्टि-कोण के आधार पर ही उसके सम्बन्ध में कोई निर्णय या विचार दिया जा सकता है। वह किसी विशेष देश और काल से सीमित रहता है, उसकी सत्यता सापेक्ष और संभाव्य होती हैं।

१६– देखिये– आई. एम. वोचेन्स की की पुस्तक- कन्टेम्पोररी यूरोपियन फिलासाफी, अनु. डी. निकोलेन एण्ड अर्दर (यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफौर्निया, लन्दन, १९५७), पृष्ठ ११४

इन बातों से स्पष्ट है कि जिस प्रकार जैन–दार्शनिकों की धारणा सत्य के सम्बन्ध में है, अर्थात् सभी ज्ञान सापेक्ष होते है, व्यावहारिकतावादी भी इसमें पूर्णतया सहमत है। ऐसे सत्य ज्ञान को वे व्यावहारिक दृष्टि से उपयोगी, किसी कार्य सम्पादन के लिए यंत्र, नैतिकता की दृष्टि से शुभ और उन्नत ऐसे कई रूपों में व्यक्त करते हैं। प्रत्येक ऐसे विचार के पीछे यही एकमात्र उद्देश्य निहित है हमारा ज्ञान, जो विशेष दृष्टि से अपेक्षित रहता है और जिसकी सत्यता उसी दृष्टि पर आश्रित है, वह उस प्रसंग में अवश्य सत्य होगा।

संक्षेप में जैन–दार्शनिकों के अनेकान्तवाद और पाश्चात्य व्यावहारिकतावाद इन दोनों का उद्देश्य मुख्यतः सत्य के सम्बन्ध में यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर अपने व्यावहारिक जीवन में सुधार और परिवर्तन लाने एवं उसके अनुकूल कार्य करना है। अतः व्यावहारिकतावादी दृष्टि और अनेकान्तवाद, जहांतक मानवता के उत्थान का प्रश्न है, एक दूसरे से सहमत हैं। दोनों में मोटे रूप से अन्तर जो हमें दीख पडता है वह यह कि व्यावहारिकतावादियों का वल विशेष रूप से मनुष्य के क्रियाकलापों पर है और वही सत्य के निर्णायक भी माने जाते है, क्योंकि जिस कार्य सम्पादन से सफलता मिलती है वही सत्य का परिचायक है। किन्तु जैन–दर्शन में सत् के स्वरूप की परख के पश्चात् ही किसी कर्म के सम्पादन की बात उठती है जैसा कि हम नय की व्याख्या के प्रसंग में देखते हैं। अर्थात् सत् अनन्त धर्मात्मक है, इसलिए उसे किसी विशेष दृष्टि से ही हम देख सकते है और ऐसी नय– दृष्टि के आधार पर जो ज्ञान हमें प्राप्त होता है उसे विशेष दृष्टि की अपेक्षा से सत्य मानते है।

वैदिक वाङ्मय में प्राणविचार

ले॰ आचार्य रामरतन शास्त्री
शोधसहायक दार्शनिक साहित्य–
अनुसन्धान विभाग, कैवल्यधाम,
लोनावला, पुणे. महाराष्ट्र.

'प्राणविचार' आर्षचिन्तन का प्रमुख आधार रहा है– ऐसा वैदिक वाङ्मय के अनुशीलन के पश्चात् कहा जा सकता है। वेद संहिता, ब्राह्मण ग्रंथ, आरण्यक एवं उपनिषदों में ही सहस्त्राधिक बार 'प्राण' विभिन्न दृष्टियों से प्रयुक्त हुआ है, दर्शन, पुराण एवं तन्त्रादि ग्रन्थों में यदि गणना की जाये तो यह संख्या और भी बढ जाती है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार आधारभूत शक्ति विद्युत मानी जाती है। यदि वैदिक विज्ञान की दृष्टि से कल्पना करें तो उसका मूल आधार 'प्राण शक्ति' मान सकते हैं। यह प्राणशक्ति विद्युत शक्ति की अपेक्षा बहुत व्यापक लगती है। सत्य तो यह दिखायी देता है कि विद्युत् शक्ति भी प्राणशक्ति का ही एक भेद है। न केवल इतना ही, अपितु इस प्रकार के अनन्त भेदों का समावेश भी प्राणशक्ति में हो जाता है। भारतीय वाङ्मय में विशेषतः आर्षग्रन्थों में प्राण का विचार एक विराट शक्ति के रूप में ही किया गया लगता है। यहाँ यह चिन्तन 'प्राणविद्या' के नाम से अभिहित है। प्राणविद्यां का महत्त्व आगे चलकर 'प्राणोपासना' के रुप में विकसित हुआ– ऐसा तत्र विषयक अनुशीलन से प्रतीत होता है।

ऋग्वेदीय प्राणशक्ति की व्याख्या एतरेय आरण्यक में इस प्रकार मिलती है– "सोऽयमाकाशः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धः तद्-यथाऽयमाकाशः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धः, एवं सर्वाणि भूतानि आपि-

पीलिकाम्यः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धानीत्येवं विद्यात् ।। " एत. आर. २।१।६ अर्थात् प्राण इस विश्व का धारक है, प्राण की शक्ति से जैसे यह आकाश अपने स्थान पर स्थित है, उसी तरह सबसे बडे प्राणी से लेकर चींटी तक समस्त जीव इस प्राण के द्वारा ही विधृत हैं ।' इससे स्पष्ट होता है कि यदि प्राण न होता तो इस विश्व का इतना बडा संस्थान जो इन नेत्रों के समक्ष दिखायी देता है, वह कभी भी नहीं रहता ।

'प्राण' सर्वत्र व्याप्त है– 'सर्वं हीदं प्राणेनावृतम्' । इसी मन्त्र में 'गोपा' शब्द का प्रयोग प्राण के समस्त विश्व के रक्षकत्व को व्यक्त करता है । प्राण ही आयु का कारण है– 'यावद् हि अस्मिन् शरीरे प्राणो वसति तावदायुः, (कौषीतकी उप. १२.) । प्राण प्रजापति है– 'प्राणो वै प्रजापतिः' श. प. ब्रा. । प्राण के द्वारा 'अन्तरिक्ष' तथा 'वायु' की सृष्टि हुयी है + "प्राणेन सृष्टावन्तरिक्षं च वायुश्च" एत. ब्रा. ।

उक्त कतिपय उद्धरणों से सिद्ध होता है कि प्राण एक ऐसा शक्तिमत् तत्त्व है जिसमें वायु एवं आकाश का संयोग हैं । कदाचित् आधुनिक विज्ञान (साइन्स) भी अब मानता है कि जो शताधिक तत्त्व हैं– वे मौलिक नहीं हैं । इन्हीं में से जो दो प्रमुख 'इलेक्ट्रोन' और प्रोटॉन हैं वे भी मूलतः एक ही तत्त्व के विकास हैं– ऐसा सिद्ध हो गया बताया जाता है । कहीं उस एक तत्त्व की संगति 'प्राण' के साथ हो सकती है?– ऐसा अनुसंधान हमारे आधुनिक विज्ञानशास्त्री यदि कर सकें, तो एक बडा कार्य होगा। योगात्मक अध्यात्म साधना के सन्दर्भ में हो, तब तो असाधारण उपलब्धि होगी । हमारे वैदिक वाङ्मय में से कुछ सूत्र मिल सकते हैं– उनका संकेत मैं यहां यथाबुद्धि देने का साहस कर रहा हुं ।

मैं पहले कह चुका हूँ कि 'वायु' और 'आकाश' प्राण के द्वारा ही निर्मित हैं । दूसरे शब्दों में 'वायु' और 'आकाश' का संयुक्त कारण प्राण निरवयव एकतत्त्व महाप्राण का ही अंश है जिसे 'प्राण' ही

नाम दिया गया हैं। ऋषियों ने इस एकतत्त्वरूप 'प्राण' को ही ब्रह्म, आत्मन्, भूमा, विराट् आदि नाम दे दिए हों– तो भी असंगति नहीं जान पडती। प्राण रूप महाशक्ति का नाम 'प्राण' नाम से ही दिया जाए ऐसी भी कदाचित् अनिवार्यता नहीं समझी गयी। यही कारण है 'प्राण' को विभिन्न अभिधेयों एवं रूपों में अभिव्यक्त किया गया है। वस्तुतः यह एक ऐसा 'प्रमेय' है जिसे प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय बना कर सिद्ध करना और उसमें ऐकमत्य लाकर उपस्थित करना बहुत ही क्लिष्ट कर्म है। 'साइन्स' के लिए कदाचित् और भी कठिन है क्योंकि प्रत्यक्ष तो अत्यल्प है और परोक्ष अनल्प। जिस प्रकार किसी एक तत्त्व के विकास 'इलेक्ट्रॉन एवं 'प्रोटॉन' हैं उसी तरह 'प्राण' के ही विकास 'वायु' और 'आकाश' हैं। 'इलेक्ट्रोन' और 'प्रोटोन' को जिस प्रकार समझा गया है उसके अनुसार इनमें से एक अणु विल्कुल स्थिर है और दूसरा उसके चारों ओर निरन्तर घूम रहा है।

इस लक्षण का विलक्षण सादृश्य आश्चर्य के साथ वेद में देखा जाता है। शतपथ ब्राह्मण में 'यजुः' से इस सृष्टि की उत्पत्ति बतायी गयी है। 'यजुः' यत् एवं जुः दो शव्दों के सम्बन्ध से बना है। यत् का अर्थ है– निरन्तर गतिशील और 'जुः' का अर्थ है 'स्थिर' श्रुति के अनुसार इन्हीं 'तत्त्वों' से समस्त वस्तुओं की रचना होती है। दोनों के लक्षणों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि जिन्हें साइन्स 'इलेक्ट्रॉन' और 'प्रोटॉन' कह रहा है उन्हीं को शतपथ व्राह्मण में 'यत्' और 'जूः' नाम दिया गया है। वहीं इनका विवरण प्रस्तुत करते हुए इनका दूसरा नाम 'वायु' और आकाश भी दिया गया है– "अयं वाव यजुर्योऽयं पवते, एष हि यन्नेवेदं सर्वं जनयति, एतं रति-यन्तमिदमनुद्रजायते। तस्माद् वायुरेव यजुः। अयमेवाकाशो जूः। यदिदमन्तरिक्षम्। एतं ह्याकाशमनुजवते। तदेतद् यजुर्वायुश्चान्तरिक्षं च। यच्च जूश्च। तस्माद्यजुरेष एव ह्येति।" श. ब्रा. १०।३।५-१२ इससे सिद्ध होता है कि प्राचीन ऋषि एक तत्त्व की शोध में 'प्राण' का स्वरूप खोज लाए थे, विज्ञान अभी उस ओर कदाचित् उन्मुख

भी हुआ है या नहीं– कहना कठिन है। मुझे लगता है कि वर्तमान विज्ञान ने अपनी शोध यात्रा में जहाँ विश्राम लिया हैं वहाँ से आगे के रहस्यों का उद्घाटन किसी न किसी रूप में आर्षचिन्तन में विद्यमान है। गम्भीरता से विचार करेंगे तो पता लगेगा कि जिन तत्त्वों का ज्ञान 'साइन्स' करा रही है वे भी भारतीय पञ्चभूत विज्ञान-प्रक्रिया के भौतिक तत्त्व ही हैं, और ये पूर्वोक्त विराट के अन्तर्गत हैं। उदाहरणार्थ 'ईथर' तत्त्व को ही लें। यह विद्वानों के लिये विवादास्पद है। वैदिकविज्ञान में देवता, ऋषि आदि प्राण विशेष ही वताये गए हैं। उसका जो विवरण श्रुतियों से प्राप्त होता है उससे संकेत मिलता है– देवताओं में प्रधान देवता 'इन्द्र' को भी प्राण (मध्यप्राण) नाम दिया गया है– "स योऽयं मध्ये प्राणः एष एवेन्द्रस्तानेष प्राणान् मध्यत इन्द्रियेणैन्ध...," म. म. मधुसूदन ओझा के अनुसार 'इन्द्र' की एक संज्ञा 'ईथर' है, जैसा कि इन्द्र के चौदह भेदों में से एक भेद 'ईथर' के नाम से मिलता है। इस सम्वन्ध में म. म. श्री गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी के विचार भी मननीय लगते हैं– "कुछ विद्वान् 'ईथर' नाम का एक तत्त्व मानते हैं और शब्द को उसी का गुण कहते हैं। दूसरे विद्वान् 'ईथर' का खण्डन करते हैं और शब्द को 'स्पेस' का ही गुण मानते हैं। हमारा तो विश्वास है कि समय के अनुसार 'ईथर' का सिद्धान्त ही स्थिर रहेगा, क्यों कि वही हमारा वैदिक विज्ञान का आकाश तत्त्व है और शब्द उसी का गुण है। सम्भव हैं 'ईथर' शब्द का सम्बन्ध 'इन्द्र' शब्द से सिद्ध हो जाए और ऐन्द्री वाक् कहकर शब्द का इन्द्र से सम्बन्ध बताने वाली श्रुति का आदर आधुनिक वैज्ञानिकों को भी करना पड़े।" इस प्रकार प्राण, इन्द्र, ईथर शब्दादि संकल्पनाएँ परस्पर सम्पृक्त सी लगती है।

उक्त विवरण से एक निष्कर्ष यह निकलता दिखाई देता है कि प्राण एक विराट शक्ति हैं जिसका लीलाविलास सर्वत्र चल रहा है इस शक्ति की उपासना, काल, ऋषि, देव आदि के रूप में करने

के लिये जो आग्रह किया गया है उसका महत्त्व कहीं न कहीं योग-मार्ग द्वारा प्रस्तावित प्राणायामसाधना के साथ सम्पृक्त हुआ लगता है। कदाचित् सगर्भ प्राणायाम के बीज यहीं से अंकुरित हुए हों।

प्राण को काल, देव एवं ऋषि रूप में वर्णित किया गया है। वह भी अपनी विशेष अर्थवत्ता रखता है। 'प्राण' की अवधारणा एवं महत्ता को ध्यान में रखते हुए इन रूपों पर विचार कर लेना आवश्यक लगता है– यह वर्णन तर्कसंगत एवं वैज्ञानिकरीत्या परिशुद्ध है ऐसा निःसंकोच कहा जा सकता हैं।

'प्राण' अहोरात्र के रूप में कालात्मक है। दिन प्राणरूप और रात्रि अपानरूप है। प्रभातवेला में प्राण समस्त इन्द्रियों को इस शरीर में अच्छी प्रकार फैलादेता है। इस प्रतनन (फैलाव) को देखकर कहा जाता है– 'प्रतायि'– अर्थात् प्रकर्षरूप से प्राण विस्तृत हुआ। इसी कारण दिन के आरम्भ काल को, जिस में प्राण का प्रसरण दृष्टिगोचर होता है, 'प्रातः' कहते हैं। दिवस के समाप्त होने पर इन्द्रियों में संकोच लक्षित होता है; उस समय कहते हैं 'समागात्' इसी कारण उस काल को 'सायम्' कहते हैं। विकास के कारण दिन 'प्राणरूप' है और संकोच के कारण रात्रि अपान है। प्राण का यह कालात्मक रूप उपास्य है– अर्थात् दिन एवं रात्रि के समय का कर्म एवं विश्रान्ति के रूप में सदुपयोग किया जाना जीवनयात्रा का साफल्योन्मुख पाथेय बन जाता है। इसीलिए श्रुति द्वारा प्रेरणा दी गयी लगती है– "प्राणो वै काल इत्युपसीत"।

क्रियाशक्ति, दान, प्रकाशन आदि के हेतुभूत प्राण की संज्ञा देव कही गयी है। प्राण की देवात्मकता इस रूप में सिद्ध सी ही है। इस प्रसंग में अनेक श्रुतिवाक्य मिल जाते हैं। केनोपनिषद् के इस उदाहरण को ही देखिए– "इन्द्रस्त्वं प्राण! तेजसा, रुद्रोऽसि परिरक्षिता। त्वमन्तरिक्षे चरसि, सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः। (२–९)" प्राण को इन्द्र, रुद्र, वायु, सूर्य आदि देवों के रूप में चित्रित करते हुए

आर्षचिन्तन का आधार प्राण की देवात्मकता को प्रकाश में लाना ही उद्दिष्ट लगता है। देवोपासना के रूप में 'प्राणोपासना' को ही पुरस्कृत किया गया प्रतीत होता है।

प्राण की ऋषित्व-अवधारणा भी कम रोचक नहीं है। प्राण ही ऋषि रुप है– 'प्राणा वा ऋषयः' श.प.ब्रा॰ १. १. १.। ऋग्वेद के मन्त्रों के द्वारा द्रष्टा अनेक ऋषि कहे गए हैं। इन समस्त ऋषियों की भावना प्राण में करनी चाहिए क्योंकि प्राण ही इन मन्त्र द्रष्टा ऋषियों के आकार में विद्यमान है। प्राण ही शयन के समय वाक्, चक्षु आदि इन्द्रियों के निगरण करने के कारण 'गृत्स' कहलाता है और 'रति' के समय विसर्गजन्य मद को उत्पन्न करने के कारण अपान ही मद हुआ। अतः प्राण एवं अपान के एतादृक् सम्बन्ध को 'गृत्समद' कह सकते हैं। प्राण ही विश्वामित्र है– 'क्यों कि यह समस्त विश्व प्राण का ही भोग्य होने के कारण मित्र है–'विश्वं मित्रं यस्यासौ विश्वामित्रः।' प्राण ही 'अत्रि' है क्योंकि इस प्राण ने ही समस्त विश्व को पाप से बचाया है– 'सर्वं पाप्पनोऽत्रायत् - इति अत्रिः'। प्राण ही भरद्वाज है– 'गतिसम्पन्न होने के कारण मनुष्य की देह को 'वाज' कहते हैं प्राण इस गरीर में प्रवेश कर सतत उस की रक्षा किया करता है; अतः यह प्राण 'विभ्रद्वाज' है– इसी कारण वह भरद्वाज है। प्राणो वै वसिष्ठ ऋषिः'–यद् वै नु श्रेष्ठः। अथो यद वस्तृतमो वसति'–अर्थात् इन्द्रियों के मध्य में प्राण श्रेष्ठ हैं अतः वसिष्ठ है, अथवा देहेन्द्रियों की स्थिति का हेतु प्राण ही वसिष्ठ हैं। ऐतरेय में प्राण के विषय में इतना तक कहा गया है– 'सर्वा ऋचः, सर्वे वेदाः सर्वे घोषाः, एकैव व्याहृतिः प्राण एव–' एत. आ. २-२-१०.

इस प्रकार प्राण का स्वरूप चेतन तत्त्व का द्योतक प्रतीत होता है। चेतना युक्त ही चेतन है और चेतना से अभिप्रेत ज्ञान, संज्ञा, प्रतिबोध, जीवन, प्राणवत्ता या सजीवता लिया जा सकता है। इनगुणों से रहित सब अचेतन हैं। वैसे नवीनशोध ने यह सिद्ध कर

दिया है कि सामान्यत: जिसे हम अचेतन कहते हैं, उसमें भी गति, बृद्धि, क्षय आदि क्रियाएँ दिखायी देती हैं, जिससे प्रमाणित होता है कि उक्त अचेतन द्रव्य में भी चेतनतत्त्व अर्थात् प्राणिक शक्ति का कुछ न कुछ सम्पर्क रहता ही है। इससे एक निष्कर्ष यह भी निकाला जा सकता है कि जहाँ जहाँ शक्तिमत्त्व है– वहाँ वहाँ प्राण है। महाप्राण की शक्ति भी न्यूनाधिक रूप से सर्वत्र व्याप्त होकर कार्य कर रही है– 'आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त'। इस प्रकार जीवनाधायकतत्त्व जहाँ भी स्थित है, वहां वहाँ प्राण स्थित है– अन्न, जल, वायु आदि सब प्राण के ही विविध रूप हैं। इसी लिए प्राण को ब्रह्म, अन्न, आप्, वायु, मन आदि के रूप में चित्रित किया गया है।

योग साधना के अन्तर्गत 'प्राणायामसाधना' को प्रकाशावरण के क्षय का हेतु तथा मानसिक एकाग्रता का आधार समझने के कारण जो प्रमुखता मिली है, वहाँ प्राण का अर्थ समष्टि या विराट् प्राण न होकर व्यष्टिप्राण समझना अधिक समीचीन लगता है। यहाँ प्राण के आयाम की चर्चा जिस रूप में की गयी है वह प्राण के अंगभूत शरीरान्त: स्थित प्राण के ही आयाम की चर्चा है; जो परिणामत: विश्वप्राण के साथ एकात्म कर देने का अत्युपयोगी सोपान है। शरीरव्यापी प्राण बाह्याकाश में विचरण करनें वाले वायु से सम्बन्ध रखता है। इस की अभिव्यक्ति श्वासोच्छ्वास के रूप में हो जाती है। इस प्राण की गति से शरीर के घटक बढते रहते हैं, स्थिर रहते हैं। इसी प्राण पर शरीर का अस्तित्त्व, अनस्तित्व निर्भर करता है। यही प्राण शरीर के अन्तर्गत विभिन्न क्रियाकलापों के द्वारा प्राण, अपान, उदान, समान एवं व्यान के रूप में समझा गया है। इन प्राणों की अन्य पाँच कलाएँ भी हैं जो अंग प्रत्यंगो के भीतर उन उन स्थानों पर रह कर व्यवस्थित रूप से कार्य करती हैं, ये हैं–नाग कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय। इस प्रकार दश प्राणोपप्राणों की संकल्पना हमारे वाङ्मय में मिल जाती है। 'प्राण को मात्र 'ऑक्सीजन' या इसी प्रकार के नामों से समझना युक्तियुक्त नहीं होगा। अत: 'प्राण' का अनुवाद ऑक्सिजन कदापि संभव नहीं है।

अस्तु; मेरी यह धारणा बनती है कि अपनें दीर्घ अनुभव, तप:पूतज्ञान और चिन्तन द्वारा भारत के आत्मदर्शी ऋषि इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि आत्मानुभव आत्मसाक्षात्कार एवं आत्मदर्शन ही मानव जीवन का परम पुरुषार्थ है। जगत् में दो प्रकार के तत्त्व हैं– एक वह जो नित्य परिवर्तनशील है, दूसरा वह जो परिवर्तन के मूल में है, अव्यक्त है, पर उसी के कारण और इसी को लेकर जगत् की समस्त दृश्यवस्तुओं, सम्पूर्णव्यक्त पदार्थों का अस्तित्व है। जगत् के पीछे जो यह महती अव्यक्त शक्ति हैं, उसको उद्घाटित करने उसे अनुभव तथा धारण करने से वह ऊपर से असहाय, दुर्बल दिखनेवाला जीवन असीम कल्याणकारी शक्ति एवं वैभव से पूर्ण हो सकता है। हमारे पीछे शक्ति का जो अमित कोष छिपा हुआ है, उस की खोज और सिद्धि से ही मानव जीवन का आदर्श पूर्ण हो सकता है। 'प्राण चिन्तन' के माध्यम से इसी प्रकार के अनेक शक्तिस्रोत ढूंढे जा सकते हैं और योग आदि की साधना प्रक्रियाओं को समृद्ध बनाया जा सकता है जिससे जीवन के चरमलक्ष्य को प्राप्त करने में कठिनाई न हो। इस 'शोध पत्र' द्वारा दर्शन एवं विज्ञान की दूरी कम हो– 'तथा इस दिशा में शोधकार्य आगे बढ़े–' यही मेरी विनम्र अभीप्सा तथा आग्रह है।

● ●

"कंचन–कामिनी को छोडनेवालों को भी मान, ईर्ष्या और वडाई सताती है। अतः इच्छाओं को मन से खोज खोज कर निकालो और आत्माराम बनो।"

♣ ♣ ♣ ♣

"यदि सज्जन कहलानेवाले व्यक्ति के समस्त दोष प्रकट हो सकें, जो उसके गुप्तमन, अन्तःकरण में छिपे रहते हैं तो हम में से अनेक व्यक्ति इतनें अंशों में दोषी हैं कि उन्हें फांसी की सजा मिल सकती है।"

★ ★

देव-यजन

"देवता विषयक वंदनात्मक भाव जब सगुणता को लेकर मूर्ति के ऊपर संक्रान्त होने के लिए बाहर आता है, तब पूजा-प्रयोग बन जाता है। वही भाव जब ज्योति को लेकर अग्नि पर संक्रान्त होने के लिए बाहर आता है तब होम प्रयोग बनता है। और वही जब मन के अन्दर स्मरण करके उठता है तब जप प्रयोग कहलाता हैं। इन सब प्रकारों में सात्त्विकता मुख्य वस्तु है और वही अध्यात्म की ओर ले जा सकती है। प्रयोग कोई भी हो परन्तु सात्त्विकता रख कर देवताओं का सम्बन्ध अन्तराकाश में लेना अध्यात्म-साधना के लिए आवश्यक है।"

स्वामी दिगम्बरजी

'ऋतम्भरा' रजि. नं. पी. अेच्. अेम्. / १५२ / ८

यह पत्रिका मुद्रक, प्रकाशक एवं अधिकारी श्री, ओमप्रकाश तिवारीजी ने योगमीमांसा प्रेस, कैवल्यधाम लोणावळा में मुद्रित करके प्रकाशित की ।